स्वच्छन्दवाद

लेखक

दुर्गाशंकर

च्छन्द प्रकाशन इन्दौर

प्रकाशक—
स्वच्छन्द प्रकाशन
३/४ तोपखाना, इन्दौर.

प्रथम संस्करण
अगस्ट १९४७.

मुद्रक:—
रीगल आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स
इन्दौर.

मूल्य
१॥।) रुपया

अवलोकन

श्री दुर्गाशंकरजी की नयी पुस्तक विचारप्रधान है और उस में विवेक-बुद्धि का प्रयोग काफी मात्रा में किया गया है। लेखक ने अपने प्रौढ़ प्रश्नों को लेकर विश्लेष्णात्मक गति से आगे बढ़ना आरम्भ किया है। स्वच्छन्दवाद के असली कारण बताते हुए; मानव की गहनतम-गूढ़-गम्भीर समस्याओं का विवेचन करके उन्होंने यह निष्कर्श निकाला है कि इस तरह की मनोभावना स्वाभाविक है। प्रकृति-विरोध, अव्यवस्था और चिन्तनीय परिस्थितियाँ मानव को उद्वेलित किये हुए हैं। कृत्रिमता और प्रकृति से प्रतिकूलता ही वर्तमान स्वच्छन्दवाद की परिचायक है। 'मानव' शीर्षक परिच्छेद में लेखक ने ऐतिहासिक निरूपण से मातृयुग, जनयुग, पितृयुग, सामन्तयुग, भूपतियुग, पूँजीपतियुग, साम्यवाद आदि के संगठन की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है और उसी के बाद शक्ति-प्रदर्शन की मनोवृत्तियों का भी विवेचन किया है। बुद्धि-जन्य मज़हब को शक्ति-संगठन में सहायक बताते हुए उन्होंने कहा है कि यह शक्ति का अनुचर है। आगे के परिच्छेदों में भी जटिल-विचारों को प्रत्यक्ष लिखने में लेखक ने सफलता पायी है। 'प्रकृति के विधान में' पढ़कर पाठक मानव का स्वरूप देख सकता है और नारी की प्रधानता का अनुभव कर सकता है। पाँचवाँ परिच्छेद इस दृष्टि से नारी की शक्तियों को-समन्वयकारी,

शान्तिसमर्थक प्रवृत्तियों को प्रकट करता है। मानव के सामाजिक-स्तर पर नारी का उच्च स्थान है—उसी का महत्व है—उसी की श्रेष्ठता है। इसीलिए तो लेखक कहता भी है:—'नारी-हृदय में स्थित मानव-धर्म की कलियाँ विकास पाकर सारे मानव-समाज को मानव-धर्म की सौरभ से भर देंगी; मानव-समाज मानव-धर्म की सौरभ से महक उठेगा।'

पुस्तक विचारों को परिष्कृत करने, विवेक को जाग्रत करने और साधना के पथ में भ्रमण करने में बड़ी सहायक सिद्ध हो सकेगी। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में ही सूक्ष्म-मन्त्र के रूप में विचारों का सार दिया गया है। स्वच्छन्दवाद की धाराओं आदि के वर्णन के बाद लेखक आर्थिक-आन्दोलन तथा बौद्धिक-स्वच्छन्दता की दिशा में बढ़ जाता है। इसके लिए यह जरूरी बताया गया है कि वास्तविकता का दर्शन किया जाय तथा रचनात्मक-कार्य की सफलता के हेतु 'केन्द्र से विस्तार' किया जाय। मानव के स्तर को ऊँचे उठाने के लिए लेखक का यही सुझाव भी है और उसका आग्रह है कि समानता एवं विकास के हेतु नारी को ससम्मान अध्यक्षता के आसन पर आरूढ़ किया जाय।

पुस्तक के विचार, शैली और विवेचनात्मक सुझाव ही लेखक की सफलता को सिद्ध करते हैं।

विश्वमित्र कार्यालय,
फोर्ट बम्बई.

करुणाशङ्कर पण्ड्या
(सम्पादक विश्वमित्र)

मेरे विचार

*

मैंने 'स्वच्छन्दवाद' पुस्तक पढ़ी। इन्दौर के एकान्त-प्रिय विचारक श्री दुर्गाशंकरजी ने काफी अध्ययन और परिश्रम के वाद इसे लिखा है। विषय की वैज्ञानिक बुनियाद होने से वह पुख्ता है और उद्देश्य उस के नाम से ही जाहिर है।

मानवसमाज और खासकर चालीस करोड़ भारतीयों की मौजूदह परेशानियों का मूल कारण लेखक की नज़र में मजहव और समाज के नाम पर मौजूदह दीमागी वन्दिशे हैं। इसीलिये लेखक व्यक्तियों को स्वच्छन्दता से सोचने की सलाह देता है। लेखक ने नारी की स्वतन्त्रता व उसके अधिकारों का काफी गंभीरता और वैज्ञानिक तरीके से उल्लेख किया है। विषय नया है और अभी इसपर काफी सोचा और लिखा जा सकता है।

इस में शक नहीं कि लेखक के कथनानुसार शक्ति की दौड़ में वाजी जीतने की गरज़ से इन्सान अपनी सारी अक्ल उसी में खर्च करते हुए अपने ही हाथों तवाहियों का शिकार हुआ है और हो रहा है। और आज वह उन तरीके व रवाजों का गुलाम वन गया है। इन तरीकों और रवाजों ने इन्सान के दीमाग़ पर इतना अधिकार जमा रखा है कि वह उन से वाहर निकलकर वास्तविकता को देखना, विचार करना और समझना ही नहीं चाहता।

समाज और मजहब के नियम बहुत पुराने हैं। जब भी नका निर्माण हुआ वे उस जमाने में मनुष्य के अनुकूल रहे होंगे। लेकिन बाद में उनका स्वार्थ के लिए स्तेमाल किया गया। पुरोहित या आलिम के नाम से इन्सान को अपनी मर्जी के मुताबिक पाबन्दियों के लिए खींचा जाता रहा। जब कभी इन्सान ने उसके खिलाफ बगावत करने की हिम्मत की उसे अधर्म और कुफ्र कहकर सजाएँ दी गईं। सुकरात और मन्सूर जैसे लोग इसका शिकार हुए सत्ताधारियों ने मजहब व समाज के नाम पर हमेशा इन्सानों को अपने हित के लिए तबाह किया। इसीलिए भय और खौफ की वजह से आज हमारा समाज बुद्धिहीन हो गया है व उसके सोचने के तरीके 'पतित तरीके' कहे जासकते हैं। आज भी मानवसमाज मजहब, धर्म, संस्कृति, परंपरागत रवाजों या अन्य नये-पुराने अन्ध-विश्वासों के भ्रम में फँसकर भयंकर गुलामी का शिकार है। वह एक दल दल से निकलना चाहता है तो अपनी पतित अक्ल के हाथों दूसरी दलदल में फँस जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह वहम की पूजा में प्रत्यक्ष इन्सानियत और आजादी को गुलामी और तबाही के अर्पण कर रहा है।

फ्रान्स के क्रान्तिकारी नेता रोसो ने सन् १७५० में Acodomy of Dijon के ऐलान पर उस जमाने के विद्वानों के घमंड को ऐसे ही एक इनामी लेकिन क्रान्तिकारी लेख के द्वारा तबाह किया। परिणाम स्वरूप फ्रान्स में सामान्तशाही के विरुद्ध भीषण क्रान्ति का जन्म हुआ उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध

राजनीतिज्ञ स्टुवार्टमिल ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर काफी जोर दिया। उसके बाद इग्लैंड की समाज और हुकूमत में उन्नति के झरने खुल गये। हमारा देश इस लिहाज से काफी गिरा हुआ है। हमारी परंपरागत दीमागी गुलामी इतनी बढ़ गई है कि बड़े विद्वान कहे जाने वाले ही सबसे अधिक गुमराह और बुद्धिहीन बन गये हैं। ऐसे जमाने में यदि इस पुस्तिका से यह आशा करूँ तो अत्योक्ति नहीं होगी। ऐसे जमाने में नौजवानों को 'स्वच्छन्दवाद' के मसले पर गौर करना जरूरी है। ऐसे लोगों को चाहिये कि वे और सोचें, और इसपर मुस्तकिल रचनाओं का सिलसिला जारी करें।

क्यों कि मैं नहीं चाहता कि इन्सान जानवरों जैसा बने; बल्कि यह जरूर चाहता हूँ कि इन्सान जानवरों की दशा से निकलकर सही मानी में इन्सान बने। मानवधर्म के नाम से अधर्म का और समाज के नाम से मूर्खता का शिकार न बने!

सैयद हामिदअली

प्रधान मंत्री मध्यभारत प्रादेशिक

देशीराज्य लोकपरिषद.

प्रेसीडेन्ट इन्दौर कांग्रेस कमेटी.

मंत्री सेन्ट्रल इंडिया जर्नलिस्ट कान्फ्रेन्स.

१०-७-४७

भूमिका

★

प्रकृति के नियमों की जानकारी को विज्ञान (साइन्स) कहते हैं और स्वच्छन्दता है प्राकृतिक व्यवस्था का एक पहलू। स्वच्छन्दता को समझना-जानना कोई कठिन काम नहीं; वनस्पति, पशु-पक्षी आदि को देखकर इसके बारे में सरलता से बहुत कुछ जाना जा सकता है। किसी की स्वच्छन्दता का अपहरण होने पर उसकी प्रकृति बदल जाती है और धीरे-धीरे उसमें बुराई पैदा होने लगती है। स्वच्छन्दता ही एक मात्र है जिसमें प्रत्येक के गुण-धर्म का विकास देखने में आता है।

मनुष्य के गुण-धर्म (मनुष्यत्व) का विकास भी स्वच्छन्द वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि मनुष्य पशु नहीं है; वह पागल कुत्ता नहीं है जो अकारण ही सब को काटता फिरेगा? हाँ वह आज अवश्य पागल कुत्ते के समान है; उसे पालतू बनाकर कष्ट देने के कारण उसकी प्रकृति बदल गई है—वह खीज उठा है। मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में जितना अच्छा बन सकता है, प्रतिकूल में उतना बुरा भी। मधुमक्खी में कितनी ही अच्छाइयाँ हैं; किन्तु उसे सताया जायगा—उसके जीवन-निर्वाह का आधार ही छीना जायगा तो वह बहुत बुरी भी है।

———

स्वच्छन्दता प्राकृतिक-व्यवस्था का पहला और प्रमुख स्तम्भ है तथा स्वच्छन्दवाद में शेष सहायक-स्तम्भ भी सम्मिलित हैं अतएव स्वच्छन्दवाद प्राकृतिक होने से वैज्ञानिक है; इसलिए इसकी सत्यता और सफलता पर अविश्वास की गुंजाइश नहीं। हाँ, विषय के विश्लेषण में कमजोरी हो सकती है किन्तु इससे उसकी सच्चाई पर किसी कदर आँच नहीं आ सकती।

पुस्तक में यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है कि मानव-संसार को सृजन करने का श्रेय जननित्व को है। जननित्व में मातृत्व अर्थात् मातृधर्म—मानवता है और मातृत्व की अधिकारिणी है नारी। इसलिये मानव-समाज को सृजन करने में नारी जाति का विशेष हाथ रहा है। मानव-समाज का केन्द्र (मूल) नारी का विकसित रूप मातृत्व ही है। यही केन्द्रीय-तत्व मानव-समाज को विकासात्मक-परिवर्तन की ओर गतिमान करता है और कर सकता है—मूल को ही सींचने से मानव-समाज का पौधा लहलहा सकता है।

यदि पुरुषवर्ग द्वारा नारी को गुलाम बनाकर—उसका अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये उपयोग न किया गया होता, यदि नारी उसके यथोचित स्थान मातृत्व पर कायम रही होती—उसे पुरुष-वर्ग ने च्युत न कर दी होती; तो निस्सन्देह आज का मानव-जगत मातृ-धर्म—मानवता से परिपूर्ण होता; मानव-जगत का कुछ निराला और खुशनुमा ही रंग होता!

नारी आज तक गुलाम—पुरुष-वर्ग के बन्धन में बँधी हुई रही; इसलिये वह मानव की वंश-वृद्धि के अलावा अन्य सामाजिक कार्य करने में असमर्थ रही—विशेष रूप से नहीं कर सकी। किंतु सृजनत्व (जननित्व=मातृत्व) केवल नारी जाति की ही वसीहत नहीं थी; पुरुष वर्ग में से वैज्ञानिकों, कलाकारों और मानवता के उपासकों आदि ने मानव-संसार को सृजन करके मातृत्व का आसन प्राप्त किया। यदि इन लोगों को ही पूरे अधिकार प्राप्त होते—शासक-वर्ग सब का अधिकार हड़प कर सर्वेसर्वा—एकाधिकारी न बन बैठा होता, यदि शासक-वर्ग ने मानव-समाज की स्वाभाविक-गति को पूरी ताकत से न रोका होता, तो भी मानव-जगत का रंग कुछ निराला और खुशनुमा ही होता!

शासकों का कार्य हमेशा से ही विनाशात्मक रहा है। यदि मानव संसार में सृजनात्मक कार्य का समावेश न हुआ होता; तो मानव-वंश शायद अब तक मटिया-मेट हो चुका होता!

शासक, फिर वह किसी भी श्रेणी का हो—कुटुम्ब का हो चाहे संसार का, वास्तविक हो या काल्पनिक, दृष्टव्य हो या अदृष्य—मानव की स्वाभाविक-गति को रोकता ही है। गति और परिवर्तन शील—समय, युग, संसार, नीति, व्यवस्था सभी को शासक जैसी की वैसी देखना चाहता है और तभी बुराइयों—अनैतिकता, अमानवता, वर्बरता का जन्म होता है। कूटनीति अर्थात् छल, कपट और हर तरह से स्वार्थपूर्ति करने का नुस्खा शासकों का ही तो आविष्कार

है। और तारीफ तो यह कि ऐसी ही मनोवृत्ति का मानव-समाज पर एकाधिकार रहने से यह सब सभ्यता और तरक्की में शुमार कर लिया गया है।

तात्पर्य यह कि सृजनत्व को प्रधानता और स्वच्छन्दता दिये बगैर मानव-समाज का विकास असम्भव है। नीति-निपुण (?) कानूनबाजों और तर्कवीरों के जमघट ने न मानव-समाज की कोई भलाई की है और न इनसे कुछ होने की सम्भावना ही है। मानव-समाज का सच्चा—वास्तविक विकास तभी देखा जा सकता है, जब कि सृजनत्व अर्थात् नारी, वैज्ञानिकों और कलाकारों को उन्मुक्त रूप से काम करने का मौका दिया जाय; उनकी प्रधानता स्वीकार करली जाय और उन्हें मानव-समाज पर अपने प्रयोग करने की पूरी सहूलियत दे दी जाय!

आज वाद-विवादों का सागर उमड़ा हुआ है। ऐसे तूफान में, ऐसे जमघट में जहाँ ताकत का बोलबाला है—मेरा यह दुस्साहस ही है। जो भी 'वाद' शब्द से मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है, न कोई मत या वाद चलाने की मेरी मंशा ही है; तो भी स्वच्छन्द के साथ वाद इसलिये जोड़ना पड़ा कि मेरे सामने अनेकों शब्द आये मगर मेरी कसौटी पर यही खरा उतरा।

जो कुछ है; विज्ञ-पाठकों के सामने पेश करता हूँ और निवेदन करता हूँ कि वे निस्संकोच अपनी सम्मतियाँ और शंकाएँ भेजने की कृपा करें।

दुर्गाशंकर
१५-८-४७

अनुक्रमणिका

✱

स्वच्छन्दवाद

पुरुष का धर्म है

श्रम

और

पराक्रम

स्त्री का धर्म है

व्यवस्था

और

विकास

१

स्वच्छन्दवाद क्यों ?

वर्तमान व्यवस्था में मनुष्य पिंजड़े में बंद पक्षी की तरह तड़फड़ाता है–छटपटाता है, मनुष्य कैद है कानूनी साँकचों में।

क–आधुनिक मानव-व्यवस्था में प्रकृति विरोध

बीसवीं सदी मानव-इतिहास का एक महान क्रान्तिकारी युग है। इस युग ने मानव के विचार-जगत् में जैसा तहल्का मचाया है, वैसा गत-युग में हुआ था या नहीं; इसमें सन्देह है। चारों ओर उथल-पुथल मची हुई है। मनुष्य के लिये एक भी आधार ऐसा नहीं बचा है, जिसे पकड़ कर वह खड़ा हो सके। ईश्वर, धर्म, शासनतंत्र, सामाजिक-व्यवस्था आदि के प्रति मनुष्य में सन्देह और अविश्वास उत्पन्न हो गये हैं। आज के मनुष्य में असन्तोष के लक्षण जाग पड़े हैं; कहीं भी वह सन्तोष की श्वाँस नहीं ले रहा है।–वह मृग-तृष्णा की भांति सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता को खोज रहा है। परतंत्रता की कँटीली-झाड़ी चारों ओर सघन

फैली हुई है।—मनुष्य विचार करता है, छटपटाता है, बढ़ता है, टकराता है! ऐसी परिस्थिति में राजनैतिक-परिवर्तन के मानी है एक बन्धन से ऊब कर मनुष्य दूसरी तरह का बना ले; और उससे भी असन्तुष्ट होने पर तीसरे के निर्माण का प्रयत्न करे। एक सीमा कायम कर ले और अपने बड़े-बड़े स्वार्थों को शक्ति द्वारा पनपाता रहे। कँटीली झाड़ी को जलाकर खाक कर देने की ताक़त होते हुए भी मनुष्य मनुष्य में भेद कायम रहे; शोषण जारी रहे और एक दूसरे को हड़पते रहने की सुविधा बनी रहे। अनन्त, असीम और अशासित प्रकृति को सीमा में बाँधने का यह दुराग्रह नहीं है?

एक ओर थैलियों का वजन बढ़ाया जा रहा है, दूसरी ओर मानव अनाज के दाने के बगैर तरस रहा है; दम तोड़ रहा है। मनुष्यत्व और नारित्व दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं; चाँदी के टुकड़ों से खरीदे जा रहे हैं। आज समृद्ध और सम्पन्न संसार की छाती पर दरिद्रता का महा-ताण्डव हो रहा है! जिसके पास धन है वह धर्मात्मा है; जिसके हाथ में तलवार है वह सब का गुरु है नेता (!) है! जो छल, कपट और मक्कारी करता है वह गुणवान है!—आज के संसार का आदर्श ही जर, ताकत और मक्कारी है। मानव, मानव को बगुले की तरह उदरस्थ करने के विचार में संलग्न है। आज के सभ्य-संसार की अक्ल इतनी बढ़ गई है, वह इतना चालाक और होशियार हो गया है, उसने अपनी शक्ति का संगठन इतना दृढ़ बना लिया है—कि वह लगातार किसी देश को सैकड़ों वर्षों तक लूट सकता है, लाखों

मनुष्यों की हत्याएँ कर सकता है और करोड़ों को दास बना सकता है। सभ्य संसार के कुछ ताक़तवर और अक्लवर लोग लाखों की तादाद में एकत्रित होकर हत्याकाण्ड मचाते हैं और इतना बड़ा डाका डालते हैं कि संसार के इतिहास को छन्नी से छानने पर भी जोड़ का उदाहरण मिलना असम्भव है। मानव-धर्म और मानव-स्वभाव तो अन्य प्राणियों से अधिक उन्नत है!

आज का मनुष्य हर कदम पर गुलामी और बन्धन महसूस कर रहा है--निराश, बेचैन, परेशान और मजबूरसा कुछ खोज रहा है। परतन्त्रता की कँटीली झाड़ी चारों ओर फैली हुई दिखाई देती है---मानव विध्वंस करने को दौड़ पड़ता है!--परिणाम होता है; लड़ाई, झगड़े, युद्ध, भयंकर हत्याकाण्ड!! जब अन्य प्रत्येक प्राणी निर्द्वन्द-सुव्यवस्थित, स्वच्छन्द-सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं; तब मानव जीवन इतना द्वन्द और हाहाकार मय क्यों?---मानव-मस्तिष्क तो अन्य प्राणियों से अधिक विकसित है?

प्रकृतिदत्त; स्वच्छन्दता और उसके पदार्थों का उपभोग प्राणी-मात्र अबाध रूप से कर रहे हैं, परन्तु मनुष्य (?)--वह आज किसी का मोहताज है; अधिकांश में वह वंचित है। प्रकृति की देनों को उपभोग करने का क्या मनुष्य को अधिकार नहीं है या बेबसी और मोहताजी ही मानव-जीवन है!-- मनुष्य तो श्रेष्ठ-प्राणी है!

आज का मनुष्य जाग गया है।---वह विकास-मार्ग के उस स्थल पर खड़ा है, जहाँ से उसके लक्ष्य-स्थान की अस्पष्ट मूर्ति

दिखाई दे रही है। अब शास्त्रों और सिद्धान्तों पर केवल तर्क-वितर्क करते रहने तथा पथ-प्रदर्शक के सहारे अन्धे की तरह चलते रहने की जरूरत नहीं है; अब उसे साधना की जरूरत है। सदियों का दबा हुआ कुचला हुआ मानव आज हड़बड़ा कर उठ बैठा है। उसे 'क्या चाहिये' यह स्पष्ट-रूप से नहीं तो धुँधले तौर से वह जान गया है और अनजाने ही किसी न किसी पथ पर वह अग्रसर भी हो गया है—जिसे पुराने विचारक, शासक और शोषक हेय और भयभीत दृष्टि से देख रहे हैं; शान्ति, धर्म और परम्परा डूब जाने की दुहाई दे रहे हैं!

मनुष्य के मस्तिष्क में आज प्रश्न घुमड़ रहे हैं—इतनी परतन्त्रता क्यों?—कुटुम्ब का बन्धन, रिश्तेदारों का बन्धन; फिर पड़ोसियों का, जाति का, मजहब का, समाज का, कानून का, राज्य का, देश का.......यहाँ तक कि सारा संसार बन्धन-मय प्रतीत होता है! जिधर देखिये; जिधर कदम बढ़ाइये—गुलामी... बन्धन...., परतन्त्रता... ! पग-पग पर स्वतन्त्रता की हत्या हो रही है!! यह सब क्यों?—मनुष्य अन्य प्राणियों के समान स्वच्छन्द-स्वतन्त्र क्यों नहीं?

मनुष्य के कदम बढ़ाते ही शोर सुनाई देता है—अनाचार और दुराचार फैलेंगे! व्यवस्था बिगड़ जायगी! धर्म डूब जायगा सभ्यता मर जायगी और शीघ्र ही मनुष्य जाति विनाश के गर्त की ओर दौड़ती नजर आयगी!!

मनुष्य कुछ रुक कर क्षण भर मौन हो सोचता है; फिर चिल्ला उठता है—क्या, जबरन किसी विधान में बँधा हुआ मनुष्य

ही मनुष्य है; स्वतन्त्र मनुष्य की कोई हस्ती नहीं? एक दूसरे को दबोचकर स्वार्थ-सिद्धि करते रहने से ही क्या मनुष्य और उसकी सभ्यता-व्यवस्था जीवित रहेगी? मनुष्य को बेवस बनाकर; उसकी इज्जत-आबरू और मेहनत के व्यापार से ही क्या समाज के आचार-विचार और सदाचार की रक्षा हो सकेगी?

अन्य प्राणी आदि काल से उन्मुक्त-स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी व्यवस्था क्यों नहीं बिगड़ी, वे अभी तक क्यों ज़िन्दा हैं—मर क्यों नहीं गये? मनुष्य तो अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है; फिर उसकी व्यवस्था इतनी दूषित क्यों, फिर उसके लिये इतने लड़ाई-झगड़े, युद्ध-परेशानियाँ और बन्धन-शासन क्यों? क्यों वह दिन रात हाहाकार मचाये हुए है? प्रकृति की महान और व्यापक देन स्वच्छन्दता और संसार के पदार्थों से वह वंचित क्यों है? क्या मानव-जीवन, मानव-स्वभाव और मानव-स्वत्व पशु-पक्षियों से भी हीन हैं?

इस प्रकार मनुष्य जो अभाव अनुभव कर रहा है और उसकी पूर्ति के लिये आज मनुष्य की जो कुछ जरूरत या माँग है, उसे हम स्वच्छन्दवाद की संज्ञा देने की शिफारिश करेंगे। क्योंकि; मनुष्य स्वच्छन्द (उन्मुक्त) जीवन चाहता है। मनुष्य चाहता है कि वह बलात् किसी भी बन्धन में बँधा हुआ नहीं रहे, किसी के दबाव में दबा हुआ नहीं रहे; न वह किसी का मोहताज ही रहे। अस्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक माँग है।

ख—स्वच्छन्दवाद प्राकृतिक है

स्वच्छन्दवाद का मूल स्वच्छन्दता है। स्वच्छन्दता से व्यक्ति की स्वच्छन्दता का बोध होता है, अर्थात् स्वच्छन्द शब्द विशेषतः मानव (नर-नारी) की स्वच्छन्दता का द्योतक है। स्वच्छन्द के पर्यायवाची शब्द हैं—उन्मुक्त, अनियन्त्रित, निरंकुश, स्वतन्त्र, अशासित इत्यादि। नर-नारी की स्वच्छन्दता सुनकर शायद कई प्रगतिवादी सुधारक भी चौंक उठेंगे और उनका चौंक उठना है भी स्वाभाविक। कारण, आज का वातावरण ही शासनमय अंकुशमय है; स्वामित्व और दासत्व के वातावरण में रहते पीढ़ियाँ गुजर चुकी हैं—पीढ़ी-दर-पीढ़ी से वही शिक्षा-दीक्षा चली आ रही है। आज तो स्वामित्व और दासत्व के व्यापार का विकास उसकी पूर्णावस्था में विद्यमान है एवं इस व्यापार को सभ्यता-संस्कृति में शुमार कर लिया गया है। यदि चतुराई से पाला गया पक्षी पिंजड़े से प्यार करने लगे एवं उसी के ईर्द-गिर्द घूमने में प्रसन्नता और सन्तोष अनुभव करने लगे; तो क्या यह आश्चर्य की बात है? आधुनिक स्वतन्त्रता और सभ्यता ऐसी ही मनोवृत्ति की उपज है; इसी से आज वह इतनी दूषित हो गई है। जिस प्रकार आज की सभ्यता और व्यवस्था द्वारा मानव-तृष्णा की पूर्ति नहीं हो रही है, वही दशा स्वतन्त्रता की भी है। आज स्वतंत्रता के अनेकों रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। फल-स्वरूप हम कभी इंग्लैण्ड-अमेरिका, कभी जर्मन-जापान और कभी रूस की शासन-शैली को आदर्श-स्वतंत्रता मानकर उस ओर लालायित दृष्टि से देखते हैं। इस पेशोपेश के कारण आज स्वतंत्रता के पहले

शुद्ध, सच्ची या पूर्ण शब्द जोड़ा जाता है और शुद्ध-अशुद्ध घी की तरह स्वतंत्रता की भी परख की जाती है। इसीलिये आज हम नये-नये प्रकार से गढ़ी गई स्वतंत्रता की मूर्तियाँ देख रहे हैं। क्या प्रत्येक के उद्देश्य में अनन्त, असीम, और अशासित मानव-संसार को शक्ति द्वारा पूर्ण, सीमित और शासित बनाने का दुराग्रह नहीं है ? क्षण-क्षण परिवर्तित और गतिशील संसार को आज के सम्प्रदाय, वाद और शासनतन्त्र क्या स्थायी रूप देने का बलात् प्रयत्न नहीं कर रहे हैं ? प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सत्ता को मानव-समाज पर आरोपित करना क्या गति और परिवर्तन को बाँधने का असफल-प्रयत्न नहीं है !

जिस प्रकार स्वतन्त्रता पर यह आरोप नहीं लगाया जासकता कि आज के स्वतन्त्र देश या व्यक्ति अथवा वे देश जो आज परतन्त्र हैं—स्वतन्त्र हो जाने पर चोरी, डकैती, हत्या आदि दुराचार करेंगे; जो भी आज की स्वतन्त्रता द्वारा उक्त कार्य ही कार्यान्वित हो रहे हैं। तो फिर स्वच्छन्दता पर यह आरोप लगाना कहाँ तक उचित होगा कि उसके द्वारा अनाचार-दुराचार फैलेंगे ? वास्तव में सच्ची-स्वतन्त्रता की एक ही मूर्ति है और उसका एक ही रूप है; जिसे स्वयं प्रकृति ने प्रसव किया है, जिसमें वादविवाद की जरूरत नहीं, जो प्रयोगात्मक रूप से सिद्ध है और जिसका प्रकृति से सीधा सम्बन्ध है। प्रकृति की उसी व्यापक व्यवस्था या देन को आज हम स्वच्छन्दवाद के नाम से सम्बोधन करना आरम्भ करते हैं।

२

प्रकृति

मनुष्य से पहली बार ग़लती होना तो स्वाभाविक ही है लेकिन जब वह बार बार वही ग़लती दोहराता है तो या तो वह मनुष्य नहीं है या वह मज़बूर है।

क—प्रकृति के कुछ पहलू

भूत मात्र के गुण-धर्म को प्रकृति कहते हैं। यदि भूत प्रकृति-शून्य होते तो संसार का निर्माण असम्भव होता; इसीलिये सारे निर्माण का श्रेय प्रकृति को है—प्रकृति को विश्व की निर्मात्री कहा जाता है।

अपने अपने गुण-धर्म के साथ गति और परिवर्तन का अस्तित्व भूत का स्वरूप है। भूतों के गुण-धर्म—गति-परिवर्तन और संमिश्रण-विभाजन से; मानो परमाणु से अणु, अणु से अणु-गुच्छक, और अणुगुच्छक से जीवाणु का जीवन शुरू होता है। जो भी दर्शनशास्त्र का इससे मत-भेद है; जीव (चेतना) को

अलग तत्व माना गया है, तो भी स्वच्छन्दवाद को इस दृष्टिकोण से कोई विरोध नहीं।—किन्तु जब हम मूल में ही गति-परिवर्तन के रूप में चेतना देखते हैं, तो विकास पाकर क्या उसमें विशेष चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती ?

प्राणियों में गुण-धर्म के सिवाय जीवन (वंश) वृद्धि की योग्यता है।—विकास के अनुसार क्रमशः उनमें जीवन-रक्षा की क्षमता तथा जीवन-रक्षा के लिये पदार्थों के उपभोग और उपयोग की क्षमता बढ़ती जाती है। मनुष्य में उसके विकास के साथ साथ यह क्षमता उत्कट रूप से देखने में आती है।

इन सभी का अस्तित्व हमारा संसार है; और जो प्रत्येक में अपने-अपने गुण-धर्म विद्यमान हैं, वे ही प्रकृति के नियम कहे जाते हैं। कहावत है कि—'खुदा के हुक्म बग़ैर एक पत्ता भी नहीं हिलता' मानी ज़र्रे-ज़र्रे में प्रकृति के नियम व्याप्त हैं। यह बात सच है कि सारा संसार प्रकृति के नियमों से परिचालित है; मगर इस परिचालन-कार्य को वस्तु या व्यक्ति पर प्रकृति का नियन्त्रण नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक स्वच्छन्द हैं, अपने-अपने गुण-धर्म के अनुसार कर्म में लगे हुए हैं और नियमों का इतने स्वाभाविक-रूप से पालन कर रहे हैं कि यदि नियन्त्रण कहा भी जाय तो प्रत्येक स्वनियन्त्रित हैं;—जिसे प्रत्यक्षता और यथार्थता के लिहाज़ से नियन्त्रण कहना असम्भव है। अगर प्रकृति का नियन्त्रण स्वीकार कर लिया जाय तो प्रत्येक के गुण-धर्म (उनके नियमों) को अपरिवर्तनीय भी कहना पड़ेगा। क्या, प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय हैं ? नहीं; गति और परिवर्तन तो प्रत्येक में

चालू है। संसार में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, हो रहे हैं और स्वयं मनुष्य ही खोज-खोज कर पदार्थों का रूपान्तर करने में मशगूल है।

परिवर्तन होते हैं; परिस्थिति उत्पन्न होने पर या परिस्थिति उत्पन्न करने पर—परिस्थिति वश। परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं।—जो अपने-आप कुदरती परिवर्तन होते हैं वे प्राकृतिक हैं और जो मनुष्यों द्वारा किये जाते हैं वे हैं कृत्रिम; परन्तु स्वाभाविक। स्वाभाविक इसलिये कि जो गुण-धर्म में परिवर्तन होता है वह परिस्थिति वश—प्रकृति के नियमानुसार ही।

ख—प्रकृति और मानव

यह कृत्रिमता मनुष्य की ही दुनिया में देखने में आती है। मनुष्य में सब प्राणियों से अधिक क्षमता है, बल्कि उसमें पूर्ण क्षमता निहित है। विकासशील बुद्धि के कारण निरन्तर खोज, प्रयोग और निर्माण करते हुए अपने जीवन को अधिकाधिक सुखी और उच्चतर बनाते रहना ही मानव-स्वभाव या मानव-जीवन का लक्ष्य है।

प्रकृति के नियमों में मनुष्य परिवर्तन करके नव-निर्माण करता अवश्य है, किन्तु वे नियम ऐसे ठोस सत्य पर स्थित हैं कि किसी के गुण-धर्म के उस पहलू की सच्चाई जाने बगैर मनुष्य इच्छित-निर्माण नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ हवा-पानी के घनत्व का ज्ञान प्राप्त किये बगैर यदि कोई हवा में तैरने के लिये ऊँचाई से कूद पड़े या समुद्र की सतह पर चलने का प्रयत्न करे, तो निश्चय ही वह असफल होता है और उसे ऐसे आचरण का

दुष्परिणाम भी भुगतना पड़ता है। किन्तु हवा-पानी के घनत्व के हिसाब की सच्चाई जान लेने पर प्रयोग और निर्माण के उपरान्त, मनुष्य वायु-मण्डल में पक्षियों की तरह सैर भी करता है और अनन्त जल-राशि पर आवागमन भी करता है। आज हम जितने आविष्कार देखते हैं—प्रकृति के नियमों (पदार्थों के गुण-धर्म) के किसी भी पहलू की सच्चाई की जानकारी के आधार पर ही वे स्थित और सफल हैं। यदि कोई आहार, विहार, निद्रा, शौच्यादि शरीर सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों से प्रतिकूल आचरण करता है तो निश्चय ही वह उचित दण्ड पाता है—उसे प्रकृति विरोधी आचरण का दुष्परिणाम भुगतना ही पड़ता है।

प्रकृति के किसी नियम से प्रतिकूल कोई कार्य सफल नहीं हो सकता।—यदि कोई कार्य प्रतिकूल किया भी गया तो प्रकृति उस कर्ता को उचित दण्ड देती है; वह कर्ता अपने कृत्य का दुष्परिणाम भुगतता है। क्योंकि प्रकृति के नियमों का मूलाधार सत्य है। वह सत्य जिसका रूप समान है; जो न मिटा है न प्रलय के उपरान्त भी मिटेगा—जो अजर-अमर है। प्रकृति से विरोध करना सत्य से विरोध करना है। सत्य का विरोध-कर्ता न सफल है न निरापद।

कोई भी प्राणी अपने धर्म के विरुद्ध कर्म नहीं करते। गज गजत्व का, सिंह सिंहत्व का, हंस हंसत्व का या मीन मीनत्व का त्याग नहीं करते, बल्कि नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्य मनुष्यत्व का त्याग कर सकता है; मनुष्य प्रकृति-विरोधी आचरण कर सकता है। अन्य प्राणी अपने मस्तिष्क का इतना विकास

नहीं कर पाये हैं या उनके मस्तिष्क का इतना विकास नहीं हो पाया है। क्योंकि वे उन परिस्थितियों में से नहीं गुजर पाये हैं, जिनमें से मनुष्य गुजर चुका है। मनुष्य कई परिस्थितियों में से गुज़रते हुए और उनका हल करते हुए अपने मस्तिष्क का विकासात्मक-परिवर्तन करता गया है; इसालिये मनुष्य में अपने धर्म का ह्रास या विकास करने की क्षमता आ गई है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है और कर्म-फल भोगने में परतन्त्र।

परिस्थितियों में दो प्रकार हैं। प्राकृतिक परिस्थिति और कृत्रिम या स्वनिर्मित परिस्थिति।

प्राकृतिक परिस्थिति में प्रकृति के दो काम हैं—दोस्ती और दुश्मनी। दोस्ती उस जगह है, जहाँ आवश्यकता की पूर्ति के लिये पदार्थ सुलभ हैं। दुश्मनी उस जगह है, जहाँ पदार्थ दुर्लभ हैं। मनुष्य अपनी बड़ी-बड़ी आवश्यकताएँ पूरी करना चाहता है; मगर बिना परिस्थितियों का हल किये और बिना प्रकृति के नियमों का उद्घाटन किये नहीं कर सकता।

कृत्रिम परिस्थिति में मित्रता कैसी ? क्योंकि वह तो प्रकृति-विरोधी कार्य के फलस्वरूप ही पैदा होती है। मनुष्य अपनी तर्क-बुद्धि से उसको जितना हल करने का प्रयत्न करता है, उतना ही फँसता जाता है। इस प्रकार मनुष्य को प्रकृति-विरोधी कार्य के लिये निरन्तर दुष्परिणाम या दण्ड भुगतना पड़ता है। उसका वास्तविक हल तभी होता है, जब मनुष्य उस कार्य को त्याग कर प्रकृति के नियमानुसार कर्म में प्रवृत्त होता है। तदन-रूप प्राकृतिक परिस्थितियों के हल से विकासात्मक और कृत्रिम से

ह्रासात्मक गति-परिवर्तन होता रहता है। यदि हम मिट्टी के ढेल को पानी में डाल दें और फिर पानी में ही उसका चाहे जितना स्थानान्तर करते रहें, लेकिन वह गलता ही जायगा। ढेले को पानी से बाहर रखने पर ही उसकी वास्तविक रक्षा हो सकती है और उसमें वास्तविक मजबूती आ सकती है। अर्थात् गणित के प्रश्न में यदि प्रारम्भ में ही जरासी ग़लती हो जाय, तो आगे की सभी संख्याएँ अधिकाधिक ग़लत होती जाती हैं और उत्तर कभी सही नहीं बैठता। इसी प्रकार एक ग़लती (प्रकृति-विरोधी आचरण) के उपरान्त उसी का हल करते रहने और उसी में सही उत्तर खोजते रहने से दुष्परिणामों की भयंकरता भी बढ़ती जाती है—यह गति और परिवर्तन ह्रासात्मक होता है। मानव इतिहास भी कुछ इसी ढंग का है।

प्राणी-समाज की प्राकृतिक-व्यवस्था के नियम-समूह को स्वच्छन्दवाद कहते हैं। उस नियम-समूह की पहली और खास धारा स्वच्छन्दता है।

निश्चय ही मानव अन्य प्राणियों के समान स्वच्छन्द नहीं है। क्यों न तब इस प्रकृति-विरोध के कारण ही आज मानव-समाज की व्यवस्था इतनी दूषित हो गई हो ?

३

मानव

जिस प्रकार हम किसी अपने प्रियजन के मरने पर उसे पुनः जीवित देखना चाहते हैं—उसे गले लगाये रखना चाहते हैं, परंतु गाड़ना या जलाना ही पड़ता है;—किन्तु हम मृत विचारों को अभी तक गले लगाये हुए हैं; उनकी सड़ाँद दिनों दिन बढ़ती जा रही है, मगर मोह-वश उन्हें दफ़नाना नहीं चाहते।

क—मानव का संक्षिप्त इतिहास

इतिहासज्ञों का कथन है कि किसी जमाने में मनुष्य निरा जंगली था; वह बिखरा-बिखरा सा रहता था और अव्यवस्थित भी था। भोजन की प्राप्ति के लिये दिन भर फल-पत्ते खोज-खोज कर खाता; मौका पाकर शिकार करता और अपनी रक्षा के लिये लुकता-छिपता रहता था।

मातृयुग—मनुष्य का पहला संगठन हुआ; उसने परिवार जैसे एक छोटे से दल का संगठन किया। उस दल में नर-नारी

थे, किन्तु कोई सुधरे हुए सम्बन्ध का सूत्रपात नहीं हुआ था—
इसे इतिहास में 'यूथ-विवाह' कहते हैं। यह दल माता की
अध्यक्षता में अपनी व्यवस्था का कार्य करता था। माता पथ-
प्रदर्शिका थी, व्यवस्थापिका थी; और उसका अनुगमन पूरा दल
स्वाभाविक रूप से करता था। उन्होंने लकड़ी-पत्थर के हथियार
भी बना लिये थे, जिससे शिकार प्राप्त करने में सुविधा हो गई
थी। वे ठण्ड से बचने के लिये चमड़े का उपयोग भी करते थे
और आग भी उन्हें प्राप्त हो गई थी; जिसे वे बड़ी हिफ़ाजत
से कायम रखते थे। इस युग का जीवन खानाबदोशों जैसा था।
खाद्य सामग्री की कमी महसूस होने पर उनका काफ़ाला दूसरे
स्थान की खोज कूच करता था। इस सिलसिले में कभी दूसरे
परिवार से भिड़न्त भी हो जाती थी। भिड़न्त होने का कारण
इतना ही था कि एक ही क्षेत्र में दो दल निर्वाह करना चाहते
थे। निरे जंगली होने कारण वे शक्ति को ही एक मात्र आधार
समझते थे। उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि पृथ्वी बहुत बड़ी है
और आगे बढ़कर भी जीवन-निर्वाह हो सकता है; इससे कमजोर
दल को कुछ रक्तपात के बाद मजबूरन आगे बढ़ जाना
पड़ता था।

जन-युग—परिवार की वृद्धि के साथ साथ भोजन का सवाल
जटिल होता गया; फलस्वरूप शक्ति की महत्ता भी बढ़ती गई।
शक्ति ने माता को उसके प्रकृति-दत्त स्थान से च्युत कर दिया।
भला सन्तान प्रसव करने वाली नारी इस दौड़ में कैसे टिक
पाती? शक्ति, अर्थात पुरुषवर्ग ने नारी की श्रेष्ठता अस्वीकार कर

दी। शक्ति की उपासना द्वारा प्रकृति की व्यवस्था का इस प्रका
पहला विरोध प्रारम्भ हुआ। इसप्रकार मातृ-युग, अर्थात मा
की अध्यक्षता और पुरुष के श्रम का विकास न होकर शक्ति
विकास की ओर मानव मुड़ गया। यह प्रकृति का इतना संगी
अपराध या इतना बड़ी गलती नहीं थी कि उसका दुष्परिणा
मानव की समझ में तत्काल आ जाता और वह दिशा बद
देता।—और न मानव के मस्तिष्क का ही विशेष विकास
पाया था कि वह दुष्परिणामों के कारणों को समझकर भूल
सुधार कर लेता! उस समय शक्ति के विकास द्वारा लाभ
ओर मनुष्य का ध्यान था; हानि की ओर नहीं। बल-प्रये
मानी लड़ाई द्वारा जन-हानि तो होती थी; लेकिन तत्काल
मानव पर इस हानि का कोई खास असर नहीं पड़ता था।-
उस मानव में आज जैसे कोमल भावों का लेश भी नहीं थ

पितृयुग—जब पशुओं के गिरोह में नर नेतागीरी क
है तो उस युग का नरसिंह क्यों न करे—और जब शक्ति
महत्व बढ़ा हुआ हो; शक्ति ही योग्यता का पैमाना हो! ब
सेनानायक के क्या युद्ध सुचारु-रूप से चल सकता है? अनु
पुरुष ने सेना-नायक का आसन ग्रहण किया। शक्ति बढ़ाने
काम तेजी से चल पड़ा—व्यक्ति में जो कुछ शक्ति थी वह
थी ही; लकड़ी, पत्थर, हड्डी के हथियारों में तरक्की की
और जनबल (जन संख्या) बढ़ाने के लिये भी उपाय स
निकाले गये। पहले युद्ध-बन्दी, मारकर खा जाने की वस्तु
किन्तु अब उन्हें दास बनाकर उनसे काम लिया जाने लगा

और युद्ध में खासकर स्त्रियों को ही लूटा जाने लगा; क्योंकि स्त्रियों से ही जन-संख्या की वृद्धि सरलता से हो सकती थी। लूट की स्त्रियों का बँटवारा किया गया, किन्तु अपने दल की स्त्रियां बच रहीं; अस्तु उन्हें भी विवाह द्वारा पुरुषों के आधीन कर दिया गया। नारी के स्वाभाविक-हक़ों को यहीं से घुन लगना शुरू हो गया—वर्ग-भेद की खाई खुदना शुरू हो गई, शासन-यन्त्र का पहला ढाँचा बना और समाज की इकाई व्यक्ति से कुटुम्ब हो गई। मजहब भी इसी युग की देन है—हवा, पानी, बिजली आदि से भयभीत होकर इनको प्रसन्न रखने का आयोजन किया गया। उसी प्रकार पितृों को भी प्रसन्न रखा जाने लगा। पिताओं के साथ मृत-माताएँ भी पुजने लगीं और वंश-वृद्धि की योग्यता के कारण जननेन्द्रीय भी पूज्य हो गई। ऐसे जमाने में पूजा के लिये और मृत-पितृों को प्रसन्न करने के लिये सब से उत्तम आयोजन मानव-रुधिर (मनुष्य-बलि) के सिवाय और क्या हो सकता था?

सामन्त युग—शक्ति की दौड़ में बूढ़ा पिता कैसे टिक सकता था! उसका स्थान युवक ने ग्रहण किया—क्योंकि शासन और शक्ति के चक्रों को तेजी से घुमाने की आवश्यकता थी; स्त्रियों और दासों से ज्यादा से ज्यादा फ़ायदा उठाने की जरूरत थी। ऐसी ही जरूरतों ने ताँबे को खोज निकाला; जिससे हथियारों में क्रांतिकारी परिवर्तन और उन्नति हो गई। मृत-माताओं-पिताओं की जगह देवी-देवताओं के राज्य (शासन) की कल्पना की गई; और उसी राज्य का शासक आगे चल कर राजा-राम

बना। स्वर्ग-नर्क, भाग्य-दुर्भाग्य आदि के नुस्खे बनाये गये, और यह सब इसलिये कि शासित-वर्ग भयभीत रहे! मानव-समाज जनयुग तक अपराधों से बरी था, बल्कि उसे अपराध करने की ज़रूरत ही नहीं थी। पितृयुग में उसमें अंकुर फूट आया और सामन्त-युग में अपराध का पौधा फल-फूल कर विकास की ओर बढ़ चला—स्व-समाज में ही हत्याएँ होने लगीं। इन अपराधों को रोकने के लिये अपराधों की सूची बनायी गई और कायदे-कानून, दण्ड-विधान गढ़े गये। इस प्रकार सामन्त-युग ने शासन-तन्त्र को दृढ़तर बनाकर पुरुष अर्थात प्रभुवर्ग के धन, दास और स्त्रियों की तत्परता से रक्षा कर ली। प्रभु-वर्ग सफल हुआ शासितों को अज्ञान के गड्ढे में ढकेल कर; किन्तु इससे अपराधों का विकास (प्रथम प्रकृति-विरोधी कार्य का दुष्परिणाम) नहीं रुक सका—हाँ, अपने को सुदृढ़ करते रहने का एक लंबा—आज तक का मौक़ा मिल गया। शासित, स्त्री और दास की कीमत उनकी उपयोगिता से आँकी जाने लगी, उन्हें दबा रखने के प्रयत्न में प्रभुवर्ग उनको बुरी तरह से कुचलने लगा तथा उनकी नृशंसता से हत्याएँ भी की जाने लगीं। धीरे-धीरे यह परंपरा ही चल पड़ी और यह सब प्रभुवर्ग का पीढ़ी-जात हक़ ही बन गया। और युद्ध तो अब बड़ी सज-धज के साथ होने लगा। हजारों आदमी संगठित होकर एक दूसरे पक्ष की हत्या और लूट-पाट करने लगे। यों शक्तिशाली-वर्ग अपने-अपने अधीनस्थों द्वारा अपने को सम्पन्न करते हुए पूरे समाज को प्रकृति-विरोधी व्यवस्था की ओर घसीट ले चला। परिणाम-स्वरूप दुष्परिणामों—युद्ध

और अपराधों की भीषणता बढ़ चली।

छोटी सी प्रारम्भिक भूल अब बढ़ गई। पहले जरा सा प्रकृति विरोधी आचरण हुआ। पश्चात् उस आचरण के दुष्परिणाम से समाज में अव्यवस्था पैदा हुई। मानव उस अव्यवस्था का हल करने लगा। मानव ज्यों-ज्यों हल करने लगा, त्यों-त्यों प्राकृतिक व्यवस्था का विरोध अधिकाधिक होने लगा। इस प्रकार स्वनिर्मित परिस्थितियों को हल करते हुए मानव अपनी सामाजिक व्यवस्था का ह्रासात्मक परिवर्तन करता गया। समाज की इकाई व्यक्ति से परिवार हुई और अब परिवार से सामन्तवर्ग में बदल गई। अब व्यक्ति के जीवन का कोई महत्व नहीं रहा। सामन्त वर्ग को कायम रखने के लिये व्यक्ति का बलिदान कर डालना जरूरी हो गया।

भूपतियुग—*यदि एक आदमी के पास का माल-मत्ता,* ऐशो-इशरत, हक़ो-हुकूमत उसके लड़के-बाले के काम में न आए और दूसरा ही उस पर अधिकार जमा ले तो यह खटकने की बात है। सामन्त को यह नागवार गुज़रा; उसने विद्वान-प्रचारकों को अपनाया। प्रचारकों द्वारा प्रचार कार्य प्रारंभ हो गया—राजा ईश्वर है, और राजा का बेटा भी ईश्वर—तथा आत्मा-परमात्मा, साकार-निराकार, जन्म-पुनर्जन्म, लोक-परलोक, स्वर्ग-नर्क भौतिक-अभौतिक, भाग्य-दुर्भाग्य आदि घोटालेदार घड़न्तों द्वारा लोगों को उलझनों में फाँस कर गुमराह किया गया। बड़े-बड़े ग्रन्थ राजा, इन्द्र (सामन्त) और पितरों की प्रशंसा में लिखे गये; उनमें राजा को ईश्वर और राजा के जमाने को सतयुग कह कर वर्णन किया गया। 'राजा राज राजेश्वर की जय' के नारे

गूँज उठे ! प्रचारकों को इस कार्य के बदले में जागीरें, दास-दासी, हाथी-घोड़े, गायें और बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ मिलने लगीं। भला, गुणी की क़द्र राजा करे और प्रजा न करे? ये प्रचारक और जनता के शुभचिन्तक (जन्नत दिलाने वाले?) समाज में स्थायी अड्डा जमाकर मज़हबी-गद्दी पर बैठ गये और राजा-रईसों के पुश्तैनी प्रचारक बन गये ! इस प्रकार व अन्य कायदे-कानून और दंड विधानों द्वारा भी सम्पत्ति (पूंजी और दासों) को सुरक्षित रख लिया गया। यों शक्ति के साथ साथ सम्पत्ति का भी महात्म्य बढ़ चला।

स्त्री....? स्त्रियाँ तो जैसे विलीन ही हो गईं दुनिया पुरुषों की बन गई ! स्त्रियाँ सब अन्तःपुर (पिंजड़े) में बन्द कर दी गईं और कुछ को मैदान में छोड़ दिया गया; ताकि राजा रईस और नौकरशाह उनका शिकार खेल कर अपनी शिकारी-हविश पूरी करते रहें।

परिश्रमी जनता....! वह खूब परिश्रम करके राजाओं, रईसों, प्रचारकों और नौकरशाहों के लिये धन-साधन जुटाती रहे और उनकी सेवा करती रहे !

और युद्ध....! सहस्रों मनुष्य नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों और नाना प्रकार के साधनों से सुसज्जित होकर महीनों तक युद्ध करने लगे ! सम्पत्ति का महात्म्य बढ़ने के साथ-साथ लूट-पाट, शासन और शोषण भी उसी मात्रा में विकास पाने लगे !

इस युग में प्रतिक्रियाएँ भी काफ़ी हुईं और उन प्रतिक्रिया-वादियों ने तत्कालीन नियम-नीति को ग़लत भी बतलाया;

किन्तु राजाओं के शासन और प्रचार के सामने वे टिक न सके। ऐसे व्यक्ति विद्रोही, नास्तिक या विधर्मी करार कर दिये गये। विराट बौद्ध-धर्म तक की असलियत को बदल दिया गया और भारत के ब्राह्मणों (प्रचारकों) ने तो उसे देश-निकाला ही दे दिया। हाँ, वे सुधारवादी मजे में रहे; जिन्होंने नीति-नियमों को (मज़बूत किया) सुधारा और रामायण जैसे ग्रन्थ रचकर राजाओं के गुण-गान के साथ ही राजाओं के लिये आदर्श भी पेश किया।

पूंजीपति युग—धीरे-धीरे सम्पत्ति का प्रभाव बढ़ गया। अब केवल शक्ति अपूर्ण थी; धन से शक्ति किराये पर ली जा सकती थी। शक्ति धन की मातहती में आ गई थी। इस सभ्यता (!) की तरक्की के साथ-साथ मालिक वर्ग के स्वार्थों का रूप भी बृहद्तर होता गया तथा उन स्वार्थों को पूरा करने के लिये समाज की उन बुराइयों को दूर किया गया जो शक्ति की वृद्धि में रुकावट डाल रही थीं। मज़हब, पुरोहित, राजा और राज्य के स्थान पर स्वतन्त्र-राष्ट्र की स्थापना की गई। उस स्वतन्त्र-राष्ट्र के अन्तर्गत राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, फ़ैसीवाद, नाज़ीवाद, समाजवाद आदि के जरिये शक्ति की वृद्धि की जाने लगी और व्यापार तथा साम्राज्य का महात्म्य बढ़ने लगा। अब तो बड़े-बड़े स्वार्थों की पूर्ति के लिये यान्त्रिक-शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर पूरे जनबल के साथ वर्षों तक स्वतन्त्र राष्ट्रों का युद्ध चलने लगा।

साम्यवाद—किन्तु उक्त व्यवस्था में अभी ख़ामी थी एक वर्ग-विशेष का अधिक स्वार्थ होने के कारण पूरे राष्ट्र का शक्ति

की दौड़ में पूर्ण सहयोग नहीं होता था। इसलिये चन्द राष्ट्रों में पूँजी व्यक्ति की न होकर राष्ट्र की बना दी गई, पूरे राष्ट्र के स्वार्थों का एकीकरण कर दिया गया। शक्ति और पूँजी के संगठन की पराकाष्ठा हो गई। सारा संसार इस ओर दौड़ पड़ा। अब व्यक्ति और परिवार तो क्या, समाज का भी महत्व घट गया; राष्ट्र के लिये सब कुछ बलिदान किया जाने लगा !

ख—शक्ति की उपासना

जंगली-मनुष्य दो-चार की संख्या में लड़ते थे। असभ्य दस-बीस या सौ मिलकर हत्याकाण्ड मचाने लगे। अर्ध-सभ्यों ने हजारों तक की संख्या में एकत्रित होकर युद्ध किया। पचहत्तर-प्रतिशत सभ्यों द्वारा युद्ध में की गई हत्याओं की संख्या लाख-लाख तक पहुँच गई। अब सौ-प्रतिशत सभ्यों का प्रदर्शन देखना बाकी है।

इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि इस दिशा (व्यवस्था) में गति-परिवर्तन तो है, किन्तु ह्रासात्मक। और इसका मूल है; मानव; द्वारा शक्ति को महत्ता मिलना और उसका महात्म्य—जब कि मानव; शक्ति द्वारा माता को मातृ-पद से च्युत कर देता है। उपरान्त जब मानव मस्तिष्क का विकास भी ज्यों-ज्यों होता जाता है, त्यों-त्यों उसके दीमाग़ पर शक्ति का ही अधिकार होता जाता है और वह शक्ति के ही काम में आता रहता है। इस प्रकार मानव मोटेतौर से उपरोक्त छः परिस्थितियों में से गुजर कर सातवीं (साम्यवाद) में प्रवेश कर रहा है। किन्तु अभी भी वही भूल क़ायम है, जो अनायास ही जंगली अवस्था में

हो गई थी। उस भूल का काफी विकसित-रूप आज संसार के समक्ष मौजूद है; जिसे हम शक्तिजन्ययुद्ध और उसका सहायक बुद्धिजन्य-मजहब (सम्प्रदाय) तथा तमाम मानव-समाज और मानव-जीवन की बुराइयों के रूप में देख रहे हैं। कई पाश्चात्य-विद्वानों का मत है कि युद्ध से ही मानव के मस्तिष्क का इतना विकास हो पाया है।—कुछ तो युद्ध की उपयोगिता को बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं और युद्ध को मानव जाति के लिये आवश्यक और लाभप्रद बतलाते हैं। युद्ध कितना आवश्यक है और कितना लाभप्रद ? इससे आज संसार भली-भाँति परिचित है। इस तर्क के बारे में हम इतना ही कहेंगे कि यह भी दार्शनिकों की भाँति भौतिकवादियों की स्वार्थ से परिपूर्ण तर्क है। लेकिन, प्रकृति के एक नियम द्वन्द्ववाद का सहारा लेकर आधुनिक साम्यवाद द्वारा युद्ध का प्रतिपादन किया गया है; द्वन्द्ववाद को युद्ध की संज्ञा दी गई है और कथित-साम्यवाद को मानव-व्यवस्था का चरम-विकास कहा गया है। इसबारे में कुछ कहना आवश्यक है।

द्वन्द्ववाद का अर्थ है—'दो विरोधी समागम से तीसरी वस्तु का पैदा होना।' यह ठीक है कि गवैया रोता है तो स्वर मे ही किन्तु उसके उस रोने को गाना नहीं कहा जा सकता; अर्थात् ह्रासात्मक परिवर्तन भी होते हैं प्रकृति के नियमानुसार ही; किन्तु उसे ठीक विकास नहीं कहा जा सकता। दो विरोधी शक्ति के समागम से तीसरी अधिक विनाशक शक्ति की आनुवंशिकता चालू रहती है तब मानव, शक्ति के दुष्परिणाम

से कैसे बच सकता है ? बुद्धि जन्य-सम्प्रदाय (साम्यवाद) में भी तो शक्ति का समावेश है; साम्यवाद में भी तो शक्ति का महात्म्य है। क्या साम्यवाद में बल-प्रयोग नहीं है ? आधुनिक साम्यवाद भी शक्ति का पूर्ण उपासक है और उस चीज की बुनियाद ही ग़लत है जो बलात् बलप्रयोग द्वारा किसी पर लादी जाय। यदि यों कहा जाय कि मानव-व्यवस्था का विकास प्रकृति के नियन्त्रण में हुआ है और मानव से कोई ग़लती नहीं हुई—अर्थात् जो कुछ भी हुआ है, हो रहा है और होगा वह सब प्रकृति के ही जिम्मे है।--तो यह तर्क दार्शनिकों सा हो जाता है। तब मानव भाग्य के समान प्रकृति की शक्ति पर विश्वास करके अकर्मण्य बन जाता है; फिर मनुष्य को प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं—जिसे साम्यवाद स्वयं नामंजूर करता है।

प्रकृति का एक नियम है ‘ केन्द्र से विस्तार ’ यानी एक से अनेक–और दूसरे नियम ‘ सापेक्षवाद ’ के मुताबिक विस्तार रेखाएँ कभी सीधी और समान नहीं होतीं। किन्तु साम्यवाद इन नियमों को भी ताक़ में रख कर समाज से व्यक्ति बनाकर मानो पत्तों से बीज पैदा करने का प्रकृति-विरोधी प्रयत्न करता है। आधुनिक साम्यवाद एक साँचा बनाकर उसमें प्रत्येक व्यक्ति को ढालना चाहता है। भौतिक-विज्ञान के भक्त साम्यवादीगण यदि इन मामूली बातों को जानते हुए भी आधुनिक-साम्यवाद को वैज्ञानिक (साइण्टीफ़िक) कहते रहें तो, इसे दुनिया का कौन सा आश्चर्य कहा जाय ?

इसी प्रकार युद्ध (बलप्रयोग-वाद) का समर्थन होते रहने के कारण आज भी युद्ध प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है। गुन्हाओं को कत्ल करने वाले, जबरदस्त लूट और अनाचार मचाने वाले, असंख्यों को अनाथ और निराश्रित बनाने वाले, हरे-भरे खेतों को बरबाद करने वाले, भरे-पुरे कोलाहल-पूर्ण शहरों और गाँवों को श्मशान और खँडहर बनाने वाले—बहादुर-योद्धा; सीधेसाधे-निरुपद्रवी किसानों और मजदूरों से ज्यादा इज्जत पाते हैं। नेपोलियन, सीजर, सिकन्दर, कैसर, तोजो, हिटलर, स्टेलिन आदि युद्ध-प्रेमियों को देवताओं के समान सम्मान प्राप्त है—इनके नामों के पीछे 'महान' जोड़ा जाता है। अभी तक समझा जाता है कि युद्ध में मरने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। आज भी युद्ध में विजय-लाभ पाने वाला शक्ति सम्पन्न–शान्ति-दूत, संसार का नेता और संसार का आदर्श माना जाता है। किन्तु क्या ऐसे चुनाव में न्याय है? सरासर बेइमानी है। सभी मनुष्यों को समान मौका देकर यह चुनाव नहीं किया जाता। इस चुनाव का महामन्त्र ही बेइमानी, बलप्रयोग और अत्याचार है—अस्तु इससे पशुओं का चुनाव हो सकता है; ज्ञानयुत-चेतनायुत मनुष्य का नहीं।

ग–शक्ति का अनुचर बुद्धिजन्य मज़हब

मजहब (सम्प्रदाय) के हाथ भी युद्ध के समान ही मानव-रक्त से रँगे हुए हैं; बल्कि युद्धों के मूल में मजहब ही कारण रहा है—और क्यों न हो; मजहब ही तो शक्ति का संगठन-कर्त्ता और सहायक रहा है। मजहब का दूसरा नाम है अन्धविश्वास का प्रचार। मजहबी दुनिया में दृश्य या अदृश्य

शासनकर्ता ही सबका शुभ-चिन्तक है—ईश्वर है; उसकी आज्ञाओं का उलंघन करना पाप है—नर्क का रास्ता अख़्त्यार करना है। मज़हब की आज्ञाएँ ईश्वर वाक्य हैं, इसीलिये वे अटल भी होती हैं। ईश्वर, धर्मगुरु, ऋषि, पैगम्बर, राजा, डिक्टेटर प्रेसीडेण्ट, सेनाध्यक्ष के वचन क्या कभी झूठ हो सकते हैं! इस प्रकार ज्ञान का बहिष्कार किया जाय और जन्मघुट्टी के साथ ही मनुष्य को यह सब पिला दिया जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं अगर हमारे कार्य भी पशुवत् और ज्ञानशून्य होते हों। ज्ञान के बहिष्कार के कारण ही इन लोगों के वचनों में और सम्प्रदायों के आचरणों में इतनी विभिन्नता और विरुद्धता पायी जाती है।

किसी जमाने में मेक्सिको में देवी देवताओं के समक्ष प्रतिवर्ष बीस-हजार मनुष्यों का बलिदान किया जाता था। अनेक इतिहासज्ञ इस संख्या को पचास-हजार तक बतलाते हैं। 'प्रेस्कौट' की गणनानुसार एक बार सत्तर-हजार लड़ाई के कैदियों का बलिदान किया गया था। बलि पाने के लिये दो जातियों के मध्य एक विचित्र समझौते का जिक्र है—दोनों जातियों के लोग प्रतिवर्ष एक निश्चित् समर-क्षेत्र में एकत्रित होकर युद्ध करते थे। उपरान्त विजेता पराजितों को बन्दी बनाकर ले जाते थे। बन्दियों में स्त्री और बच्चे भी रहते थे। बलिदान की विधी भी बड़ी भीषण होती थी और यह समारम्भ जातीय त्यौहार के बतौर मनाया जाता था। सभ्य कहलाने वाले मज़हबों की भी ऐसी ही दशा रही है। 'इंक्वीजीशन' के मुख्य

लेखक 'श्री लरेल्टी' ने बहुत खोज के बाद यह स्थिर किया था कि केवल 'टार्कीमेडा' ने अपने अठारह वर्ष के प्राधान्य में दसहजार-दोसौ-बीस आदमियों को जीता जलाया था और छःहजार-आठसौ-साठ अविश्वासियों को जीवित न पाने पर उनकी मूर्तियाँ बना कर दहन की गई थीं।—इस आदमी ने चौदहहजार-चारसौ-एक कुटुम्बों का नाश किया था और सैले-मेनका नगर (स्पेन) में छःहजार पुस्तकों को तथा हिब्रू भाषा में मूल बाइबिल को जहाँ भी पाया अग्नि के हवाले कर दिया था। 'श्री बक्ल' ने लिखा है कि 'पंचम-चार्ल्स' के राजत्व काल में एकलाख अविश्वासियों को प्राण-दण्ड दिया गया था। 'श्री मोल्टी' ने लिखा है कि निदरलैण्ड्स में पचासहजार से अधिक मनुष्य मजहबी अत्याचार से बलिदान हुए थे 'श्री डारविन' लिखते हैं कि केवल स्पेन में करीब तीन सदियों तक प्रतिवर्ष एक हजार आदमी मजहब के नाम पर मारे जाते थे। अक्टोबर सन् १९२० के 'लिटररी गाइड' पत्र में छपा था कि सिर्फ सोलहवीं और सत्रहवीं सदी के मध्य सारे यूरोप में ढाईलाख स्त्रियाँ डाइन होने के अभियोग में जीवित जलायी गई थीं।........भारत में ब्राह्मणों ने कितने बौद्धों को और बौद्धों ने कितने ब्राह्मणों की हत्या की तथा मुसलमानों ने कितने हिन्दुओं को और हिन्दुओं ने कितने मुसलमानों को मारा—इसका हिसाब पाठक ही लगाएँ? लेकिन फिर भी ये ईसाइयों से कम बहादुर साबित नहीं होंगे!

अब अगर हम आज के स्वतन्त्र राष्ट्रों पर नजर डालें तो

तब और अब की मनोवृत्ति में कोई भी अन्तर नहीं दिखता, केवल मजहब परिवर्तन कर लिया गया है; बाकी वही बात है। वे अपने धर्मगुरू या राजा के इशारे पर धर्म के नाम पर लड़ते थे, ये अपने डिक्टेटर या प्रधान के संकेत पर देश के नाम पर लड़ते हैं। वे अपने सम्प्रदाय-विरोधियों की हत्याएँ करते थे, ये भी अपने सम्प्रदाय-विरोधियों को गोली से उड़ाते हैं। केवल अन्तर यह है कि वे उस दुनिया का सुख लूटना चाहते थे और ये इस दुनिया का सुख लूटना चाहते हैं। क्या यह अन्ध-विश्वास नहीं है ? मजहब की निगाह में बड़ा वही है, जिसमें कट्टरता हो; जो जिद, घृणा, अत्याचार, हत्या आदि करने में कट्टर हो और जो यह सब विश्वास-पूर्वक कर डाले। इसी कारण चंगेज़, तैमूर, औरंगजेब, इग्नेशियस, ग्रीगरी-सप्तम, छटे-अलेक्झेण्डर और आज तक के कट्टर राज कर्मचारियों को इतना सम्मान प्राप्त है, और ये महात्मा, औलिया, ईमाम या खुदा के सच्चे-बेटे माने जाते हैं। शायद ईश्वर के मदरसे में कुरान-पुरान-बाइबिल आदि से ही इन्सान का इम्तिहान लिया जायगा ? इस प्रकार हम देखते हैं कि आज शक्ति (बल प्रयोग) और उसकी सहायक बुद्धि (मजहब) इन दो प्रकृति-विरोधी कर्मों ने वर्ग-भेद की गहरी खाई समाज में खोद दी है।

मालिकवर्ग की वह गुलामी की प्रथा जिसमें मनुष्य सम्पत्ति मात्र था और मनुष्यों की पशुओं के समान खरीद-बिक्री होती थी—मिट गई है; परन्तु अब उसके बदले में ऐसा यान्त्रिक-कारखाना तैयार कर लिया गया है कि जिसके द्वारा बड़ी तादाद

में गुलाम बनाये जाते हैं। मनुष्य प्रथम-यान्त्रिक-खाते—माता-पिता के शासन-शिक्षण में जाता है। ईश्वर, देवता, परियाँ, राजा, सिपाही आदि की कहानियों द्वारा दृश्य-अदृश्य शासन-शक्ति में बालक के दीमाग़ को धीरे-धीरे पकाया जाता है। बालिका को पतिव्रत और सतित्व के साँचे द्वारा पिता, पति और पुत्र के शासन में जमने योग्य गढ़ा जाता है और परलोक, ईश्वर, धर्म, पाप, पुण्य आदि का उन पर रंग चढ़ाया जाता है। इसके बाद अन्य यान्त्रिक-खातों—परिवार, पड़ौसी, रिश्तेदार, जाति, समाज, मजहब, कानून आदि में से वह (कच्चा माल) गुजरते हुए पूर्ण-परिपक्व होकर निकलता है; ईमानदार—सतीनारी, मजदूर, किसान, नौकरशाह, शोषित-समाज और परतन्त्र-देश के रूप में। मालिक-वर्ग के इन यान्त्रिक-खातों का शृंखला-क्रम (संगठन) इतना सुसम्बद्ध है कि एक दूसरे का सहारा-समर्थन मिलने में तनिक भी रुकावट नहीं आती। यदि सन्तान अपने पिता के खिलाफ़ कुछ उज्र लेकर किसी भी बड़े खाते तक जाय तो उसे निराश ही लौटना पड़ता है; कुछ उपदेश द्वारा मामला गोल-माल करके दबा दिया जाता है।

प्रत्येक मालिकों (खातों) का उदाहरण न देते हुए, अब हम संक्षेप में चार भाग कर लेते हैं,—स्त्रियों का मालिक पुरुषवर्ग, समाज (जाति) का मालिक पुरोहित (मज़हबी नेता) वर्ग, किसानों-मजदूरों का पूंजीपतिवर्ग और इन सबका शासकवर्ग—सरकार नामक जमात।

स्त्री, एक अर्ज पेश करती है कि मेरा पति (मालिक)

अयोग्य-दुराचारी है; मैं उसकी दासता में नहीं रहना चाहती। सन्तानें मेरी हैं—क्योंकि मैंने ही उन्हें प्रसव किया है। मेरे बच्चों को उस मालिक के हवाले न करते हुए, मेरे ही पास रहने दिया जाय—क्योंकि मैं उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करती हूँ हमारे जीवन-निर्वाह के लिये मेरे और बच्चों के पिता की सम्पत्ति में से उचित भाग दिया जाय। लेकिन फिर भी मेरा गुजारा नहीं होगा, क्योंकि उनके पास अधिक सम्पत्ति नहीं; वे स्वयं गरीब हैं। इसलिये मैं मेरी शक्ति के अनुसार श्रम करने को तैयार हूँ। इस श्रम के बदले में मुझे उतनी सहूलियतें (मासिक वेतन) मिलना चाहिये, जिससे हमारी (एक मध्यम वर्ग के समान) जरूरतें पूरी होती रहें और बच्चों को अच्छी शिक्षा दी जा सके।

क्या इन्साफ़ होगा? आज की व्यवस्था के मालिकों के पास इसका कोई इलाज नहीं। धर्म-ग्रन्थ देखिये, शायद कुछ लिखा हो? उनमें भी सती-पति, लोक-परलोक, पाप-पुण्य, भाग्य-अभाग्य आदि के महात्म्य की कहानियों के सिवाय कोई हल नहीं; न कानून और हुकूमत ही एक स्त्री और उसकी सन्तानों की जरूरतें पूरी करने में समर्थ है। अन्त में वह स्वाभि-मानिनी-नारी रूप का बाजार लगा कर बैठती है; गुजारा करती है और उन्हीं न्यायाधीशों (?) द्वारा धन, यश और वाहवाही सम्पादन करती है।

नौकरबाबु माँग पेश करता है कि दवा-दारू और बच्चों की पढ़ाई का भारी खर्च है। लड़की बालिग़ हो गई है, उसकी शादी और दहेज का प्रबन्ध अलग मेरे सिर पर लदा हुआ है।

चालीस-रुपये महीने में यह सब बिलकुल असम्भव है। कम से कम दो-सौ रुपये मासिक मिलना तो जरूरी है। तभी मेरी समस्या का हल हो सकता है।

समाज, धरम, कानून सब ख़ामोश! अन्त में या तो वह अमानत में ख़यानत करता है अथवा आत्महत्या!

किसान और मजदूर चीखते हैं—हड्डीतोड़ मेहनत के बाद भी हम फ़ाकाकशी करते हैं। बच्चे बिना इलाज के मर जाते हैं और स्त्रियाँ कपड़े के अभाव में घर से बाहर नहीं निकल सकतीं। हमें बीमारी में भी काम करना पड़ता है—मजबूरी है। अगर काम नहीं करें तो खायँ क्या? हम चाहते हैं कि हमारी मेहनत का का पूरा-पूरा मुआवजा हमें मिले। खेत और कारखाने हमारे नहीं हैं; यही न? लेकिन हम वर्षों से उन खेतों और कारखानों में काम कर रहे हैं और उनमें जितनी पूँजी लगी होगी, उससे कई गुना अधिक हम लौटा चुके हैं। यदि किसी की एकअरब पूँजी के बदले में हम पाँच अरब दे चुके हों तो?

कुछ लेखी में है? कानून की किताब उठाकर शासकवर्ग सवाल करता है।

तमाम आफ़िसों में बही-खाते भरे पड़े हैं। किसान और मजदूर जवाब देते हैं।

लेकिन जब शासकवर्ग यह जान जाता है कि फ़रियादी कोई रईस-पूँजीपति नहीं, किसान-मजदूर हैं और अपील है पूँजी-पतियों के खिलाफ़! तो वह कानूनी-किताब बन्द कर दी जाती है; उनके लिये दूसरी किताब है।

निराश हो किसान-मज़दूर कहते हैं—मजबूरन हम चोरी करेंगे, डाका डालेंगे! और वे विषैली-मुस्कान से फुस्कारते हैं—इसका इन्तिजाम कर दिया गया है! यह अपराध है; न्यायालय में न्याय का ढोंग करके हम तुम्हें कानूनन सज़ा देंगे! तुम्हें हमारी दुनिया से निकाल कर अलग फेंक देंगे!

शासकवर्ग की शिकायत किसके पास की जाय?—और जब अभी तक कहीं भी इन्साफ़ नहीं मिल सका तो कहीं भी कोई उम्मीद नहीं—और यह सब देख कर भी अगर हम न्याय की आशा रखें तो यह हमारी मूर्खता ही होगी।

आज मालिकवर्ग अधिकारोन्माद-वश, शासन की तलवार हाथ में लिये—अपने को संसार का सृष्टा अनुभव कर रहा है और इन्साफ़ के नाम पर इन्साफ़ की हत्या कर रहा है। प्राकृतिक-व्यवस्था में मालिकवर्ग कहीं भी देखने में नहीं आता। जब मालिकवर्ग ही प्रकृति (सत्य) विरोधी उपज है, तब उसके कारनामे अगर सत्य और न्याय का गला घोटें तो—इसमें कौन सा आश्चर्य है?

४

प्रकृति के विधान में

यह तो मानी हुई बात है कि जड़ में ही खाद-पानी देने से फल-फूल अच्छे पैदा होते हैं। लेकिन उसकी जड़ को सींचने से क्या लाभ जिसमें फल ही न लगते हों? वह तो और लम्बा-चौड़ा, सण्ड-मुसण्डा होकर अत्याचार और बलात्कार ही करेगा—दुःख ही बढ़ायेगा।

क—आधुनिक मानव और स्वच्छन्द मानव

आज हुआ यह है कि मनुष्य ने बुद्धि को शक्ति की सहायक बनाकर प्रकृति-विरोधी आचरण कर डाला है। परिणाम-स्वरूप प्रकृति बार-बार दण्ड देती आ रही है और दे रही है। फिर भी यह सब जानते हुए भी मनुष्य (प्रभुवर्ग) को अपनी अवास्तविक उन्नति से इतना लोभ-मोह हो गया है कि वह प्रकृति के नाशकारी-विधान से भी भयभीत नहीं होता। प्रकृति अनन्त-शक्ति-सम्पन्ना है—यदि मानवजाति की यही रफ्तार रही तो उसे और कौन कौन से भयंकर-दण्ड (दुष्परिणाम) भुगताना

पड़ेंगे और उसकी क्या दुर्गति होगी यह कहना असम्भव है !

प्रकृति गम्भीर स्वर से घोषणा करती चली आ रही है— मैं सत्य के सिवाय किसी को भी प्यार नहीं करती। मैं सत्य की रक्षा के लिये असत्य को बलि कर डालने में तनिक भी नहीं हिचकती। विश्वास न हो तो इतिहास देख लो—बेबिलौन, युनान, रोम आदि को मैं कुचल चुकी हूँ; यूरोप की राजशाही को दफ़ना चुकी हूँ और तमाम शासन-मत्तों की हस्ती मिटा चुकी हूँ! जो जाति तलवार पर विश्वास करती है—जो उसके सहारे जीवित रहना चाहती है, वही शक्ति उसके लिये घातक सिद्ध होगी; वह जाति उसी के द्वारा मरेगी ! संसार की गर्वित जातियों, तुम्हें अपनी शक्ति की पूर्णता पर चाहे जितना विश्वास हो, मैं उससे बड़ी विरोधी-शक्ति पैदा करके तुम्हें दण्डित करूँगी—मैं शक्ति और शासन का सदा विरोध करती रहूँगी; क्योंकि उनके द्वारा मेरा—सत्य का विरोध होता है !

किन्तु स्वच्छन्द-जीवन इन सब झंझटों और मुसीबतों से बरी है; क्योंकि वह जीवन प्रकृति के अनुकूल प्रकृति की ही एक वस्तु (देन) है। स्वच्छद-जीवन में प्रकृति का किंचित मात्र भी विरोध नहीं है; इसीलिये सारे प्राणियों का जीवन निर्द्वन्द, सुव्यवस्थित और सुखी है। किन्तु मनुष्य ने अपनी शक्ति और बुद्धि के घमण्ड से, स्वार्थ और उच्छृंखलता-वश प्रकृति की पहली देन—स्वच्छन्दता को ही ठुकरा दिया है; तब दूसरी देन—प्रकृति के पदार्थों से मनुष्य का वंचित रहना और मानव-समाज में नानाप्रकार के अपराधों का विकास होते रहना

स्वाभाविक ही है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के महा-ज्ञान—जिसका कि आज अधिकांश में दुरूपयोग ही हो रहा है—का गुणगान करना निरर्थक है।

प्रारम्भ में मानव ठीक जमीन (मातृयुग) पर बढ़ रहा था। किन्तु ऊँची-नीची जमीन के बजाय अज्ञानवश उसे समतल समुद्र पर चलना ठीक जँचा। समुद्र में सबल ही सफ़र कर सकते थे; निर्बल पिछड़ने और डूब कर मरने लगे। सबलों को मृत-साथियों के शव के सहारे तैरने (सफ़र करने) में सुविधा रही। धीरे-धीरे सबलों द्वारा निर्बलों को डुबो कर मारना और उनके शव पर सवार होकर सफ़र करना सुविधा-जनक होने से आवश्यक हो गया। किन्तु इतना करते हुए भी मानव; समुद्र की मंज़िल में सफल नहीं हो सका—तैरने के कठिन परिश्रम से, तूफ़ानों के संकट से, शव प्राप्त करने के लिये अमानुषिक कर्मों से, अनेकों समुद्री मुसीबतों से और डूब मरने से वह बच नहीं सका।

प्रकृति के नियमों का मूलाधार सत्य है—तदनुसार मानव-समाज का जमीन पर सफ़र करते रहना अर्थात् मातृयुग द्वारा विकास की ओर अग्रसर होते रहना सत्य (प्रकृति के नियमानुकूल) था। किन्तु मोह या अज्ञान-वश मानव; मानव-प्रकृति से प्रतिकूल समुद्र (ग़लत रास्ते) पर ही सफ़र करता रहता है—तो अनेकों संकट-पूर्ण कृत्रिम-परिस्थितियों (रुकावटों) का पैदा होते रहना, एक का हल करने पर दूसरी का उपस्थित होना और इस प्रकार सत्य के विरोध-स्वरुप निरन्तर दुष्परिणाम

भुगतते हुए विनाश की ओर बढ़ते रहना (ह्रासात्मक-परिवर्तन होते रहना) बिलकुल स्वाभाविक है। हर परिस्थिति का हल करने के उपरान्त मानव समझता है कि मैं समुद्र पर सैर करने में सफल हो गया हूँ किन्तु मानव-इतिहास के काल में यह सफलता क्षणिक रहती है; तुरन्त ही मानव को नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार सत्य का विरोध-कर्ता मानव (समाज) आज न सफल ही है न निरापद ! मानव सफल तभी हो सकेगा—जब वह समुद्र (कृत्रिम-पथ) पर सफ़र करने की सफलता का मोह छोड़कर, किसी भी निकटतम किनारे पर पहुँच, प्रकृति के अनुरूप जमीन पर (मातृयुग) से सफ़र प्रारम्भ करेगा। गणित के सवाल में अगर शुरू में ही ग़लती हो गई हो तो उसे पुनः प्रारम्भ से ही हल करना होगा।

मिसाल के लिये हम किसी भी यान्त्रिक आविष्कार को लें—उसकी सफलता का मूल-कारण पदार्थों की प्रकृति के कुछ पहलुओं की जानकारी है। उपरान्त प्रयत्न, प्रयोग और निर्माण द्वारा उस यन्त्र का विकास होता रहता है। उसी प्रकार मानव और उसकी व्यवस्था का मूल-सत्य मातृयुग है—अर्थात् व्यक्ति के उन्मुक्त हुए बगैर; मानी नारी को उसके प्रकृतिदत्त स्थान पर आरूढ़ किये बगैर मानव-जीवन और मानव-व्यवस्था में विकासोन्मुखी सफलता प्राप्त होना असम्भव है। प्राकृतिक-व्यवस्था स्वच्छन्दवाद का मूल स्वच्छन्दता को अपनाकर ही प्रयत्न, प्रयोग और निमार्ण द्वारा मानव-जीवन और मानव-व्यवस्था का वास्तविक विकास की ओर अग्रसर होना सम्भव है।

ख—नारी की प्रधानता

मानव-समाज की प्राथमिक व्यवस्था—मातृयुग प्राकृतिक तो है ही किन्तु इसके अलावा भी और कुछ मजबूत (प्राकृतिक) कारण हैं।

'केन्द्र से विस्तार या एक से अनेक' यह प्रकृति का एक साधारण नियम है। इस नियम के अनुसार व्यक्ति से समाज का निर्माण हुआ है। इसीलिये कहा जाता है कि 'समाज व्यक्ति के लिये है, न कि व्यक्ति समाज के लिये।'—अर्थात् समाज का एक साँचा बना कर उसीके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को ढालने का प्रयत्न करना प्रकृति के नियम से प्रतिकूल कार्य है। प्रकृति-विरोधी कार्य से सफलता की आशा तो की ही नहीं जा सकती, किन्तु उसका दुष्परिणाम भी हमें भुगतना पड़ता है। अस्तु; यदि हमें प्राकृतिक (वैज्ञानिक) व्यवस्था का निर्माण करना है तो यह जरूरी है कि पहले व्यक्ति का निर्माण किया जाय।—अर्थात् प्राकृतिक-व्यवस्था का मूल-आधार—स्वच्छन्दता व्यक्ति को दी जाय—व्यक्ति को उन्मुक्त (बन्धन-रहित) कर दिया जाय। व्यक्ति में नर और नारी दोनों ही सम्मिलित हैं; तब हमारी व्यवस्था का केन्द्र कौन हुआ—नर या नारी ? वास्तव में नारी ही मानव-समाज का केन्द्र-बिन्दु है। क्योंकि पदार्थ की प्रारम्भिक चेतन अवस्था में; अर्थात् वनस्पति और कम सेल के प्राणियों में प्रकृति को नर की आवश्यकता नहीं पड़ती—विस्तार का काम एक के ही जिम्मे है। वनस्पति में एक बीज से ही क्रम जारी रहता है, और प्राणियों में भी एक सेल का दो में विभाजन हो जाता है।

प्रकृति को नर की जरूरत तो तब पड़ती है जब सेल और प्राणियों के बनावट की पेंचीदगियाँ बढ़ जाती हैं और विभाजन असम्भव हो जाता है। अन्त में हम लाखों सेल वाले मनुष्य को देखते हैं, जो बहुत ही बारीकियों और पेंचीदगियों से भरा हुआ है। अर्थात् अधिक सेलों और हड्डियों का विभाजन असम्भव होने की परिस्थिति में ही प्रकृति को मादा के लिये नर की जरूरत पड़ती है। केवल नर के संयोग-मात्र से मादा (नारी) द्वारा प्रकृति की जरूरत पूरी हो जाती है—इसके उपरान्त प्रकृति को नर की कतई आवश्यकता नहीं रहती; प्रकृति का विस्तार करने का कार्य पूरा हो जाता है। तदनुसार नारी ही मानव समाज का केन्द्र है और नर उसकी निकटतम विस्तार-रेखा या नारी (जननित्व) का सहयोगी।

इस स्थान पर एक प्रश्न उठता है कि, माना कि समाज का केन्द्र नारी ही है और उसे बन्धनमुक्त कर देना भी ठीक है; परन्तु दोनों समान हैं फिर नारी को ही प्रधानता क्यों—और अध्यक्षता का तात्पर्य क्या ?

नर-नारी की समानता का केवल यही अर्थ है कि कोई किसी का दास नहीं—यानी कोई किसी के बन्धन (दबाव) में नहीं रहे। नर-नारी की समानता का आविष्कार तो आज की इस शासनमय-व्यवस्था में से हुआ है।—नर-नारी की समानता की पुकार आज की व्यवस्था के दुष्परिणाम-स्वरूप; पुरुष की दासता में जकड़ी हुई नारी की विद्रोहात्मक-पुकार है। वास्तव में नर-नारी के धर्म-कर्म में कोई समानता नहीं है—बस जिसके

धर्म-कर्म में श्रेष्ठता है उसे ही प्रधानता मिलनी चाहिये; वही अपने धर्म-कर्म का आदर्श समाज के समक्ष उपस्थित कर अध्यक्षता के आसन पर आरुढ़ होने के काबिल है। अध्यक्ष से शासनकर्ता का नहीं—पथ-प्रदर्शक, उपदेशक, शिक्षक, व्यवस्थापक आदि का बोध होता है। अध्यक्ष अपने व्यक्तित्व, वाणी और आदर्शाचिरण द्वारा संरक्षण और नियन्त्रण करता है—और नियन्त्रण उसी मानी में, जिस मानी में प्रकृति का नियन्त्रण प्राणियों पर है—जिसे नियन्त्रण कहना असम्भव है।

म—नारी की श्रेष्ठता

श्रेष्ठता का पैमाना क्या—नारी श्रेष्ठ है या नर? हमें दोनों प्रकार के विचार मिलेंगे। एक दल नारी को देवी-गृहलक्ष्मी कह कर उसकी प्रशंसा करता है; दूसरा ढोल, गँवार, शूद्र और पशु से नारी की तुलना करता है एवं नारी को नरक का द्वार कह कर उसकी भर्त्सना करता है। किन्तु ये दोनों ही विचार हैं जबानी जमाखर्च रटी-रटायी बातें। इसलिये नारी के धर्म-कर्म—उसकी श्रेष्ठता जानने के लिये सीधे-तरीके से प्रकृति के सहारे ही विचार करना न्याय्य होगा।

जीवों में अपने वंश को क़ायम रखने की अदमनीय प्रवृत्ति है। उन वनस्पतियों और कीटों को क्या कहियेगा—जो इस वंश-वृद्धि के कार्य को पूरा करने के साथ ही अपनी ज़िन्दगी ख़त्म कर देते हैं; शायद इसी काम के लिये वे जीवन धारण करते हैं; शायद उनकी यही प्रधानता है? कुछ छोटे प्राणियों में समागम के पश्चात् मादा से अलग होते ही नर अपनी जान खो

देता है—प्रकृति का 'विस्तार करने काम' पूरा हो जाता है और मादा अपने वंश को बढ़ा कर मर जाती है। 'कोचीनीयेल' की मादा इतने अण्डों से भर जाती है कि उसे अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ता है और अण्डों की रक्षा के लिये उसका मृत-शरीर थैली का काम करता है। 'कौंगर' मछली जिसकी लम्बाई छः-सात फीट होती है; पूर्ण आकृति प्राप्त कर लेने के बाद खाना-पीना बन्द कर देती है और छः महीने तक यो ही पड़ी रहती है। इस बीच उसके शरीर में अण्डे पुष्ट हो जाते हैं और अण्डे देने के साथ ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इनसे कुछ उच्च (विकसित) श्रेणी के जीवों को अपनी वंश-वृद्धि के लिये अधिक परिश्रम करना पड़ता है। कई जाति की मछलियों और जीवों को चालीस-पचास दिनों तक अपने अण्डे की रक्षा करना पड़ती है और कुछ तो इतने दिनों तक कुछ नहीं खातीं।

पक्षियों में इससे भी अधिक परिश्रम और निस्प्रहता पायी जाती है। उन्हें रात-दिन अपने अण्डे पर बैठे रहना पड़ता है; जरा सी सुस्ती से अण्डे गन्दे हो जाते हैं। कई चिड़ियों को प्रायः महीने भर तक अपने अण्डों की रक्षा करना पड़ती है; तब कहीं अण्डे फूटते और बच्चे निकलते हैं। परन्तु उनका काम (धर्म) यहीं पूरा नहीं हो जाता—ये बच्चे पूरे निरावलम्ब और विवश होते हैं; चल-फिर कर भोजन तलाश करने की कौन कहे इन में खिसकने और देखने की शक्ति भी नहीं रहती है। बहुत दिनों तक इनके माता-पिता अपनी चोंचों से भोजन खिला-

खिला कर इनकी परवरिश करते हैं—और पंख निकल आने के बाद भी कई दिनों तक हिफ़ाजत करते रहते हैं। इस कठिन लालन-पालन के बिना क्या बच्चे एक क्षण भी जीवित रह सकते थे! इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि जीव जितना अधिक उच्च होता जाता है वह उतना ही निस्वार्थ, सहानुभूति-पूर्ण, परिश्रमी और सामाजिक बनता जाता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि नर की अपेक्षा मादाओं की प्रकृति में यह गुण-धर्म अधिक मात्रा में पाया जाता है—मादाओं में प्रेम, सहनशीलता (कष्ट झेलना) आदि गुण अधिक होते हैं।

अब दूध पिलाने वाले प्राणियों को देखिये—कंगारू का बच्चा समय से पहले ही अपरिपक्व-दशा में उत्पन्न होता है और माता के पेट पर बनी हुई थैली द्वारा ही उसकी रक्षा होती है। उसी थैली में बैठे-बैठे वह परिपक्व होता रहता है और बाहर मुँह निकाल कर माता के स्तन से दूध पी लिया करता है। इससे जाहिर होता है कि प्राणियों के विकास के साथ-साथ सन्तान उत्पन्न करने और उसके लालन-पालन करने का कार्य बढ़ता जाता है तथा निस्वार्थता, सहानुभूति, प्रेम आदि गुण-धर्म और परिश्रम भी बढ़ता जाता है।

विकास की इस मंजिल को पार करने के बाद हमें वे जीव मिलते हैं जिन्हें प्राणी-शास्त्र में प्लैसेण्टेलिया कहते हैं। आंगिक-कार्य और गुण-धर्म (निस्वार्थता आदि) यहाँ पराकाष्ठा तक पहुँच जाते हैं। इन जीवों के बच्चे शीघ्र ही जन्म नहीं लेते; बहुत दिनों तक इन्हें माता के गर्भ में ही रहना पड़ता है।

इन जीवों को एक विशेष अवयव प्राप्त है—जिसे "प्लैसेण्टा" कहते हैं।- इसी के द्वारा बच्चे को उदर में भोजन और आक्सीजन प्राप्त होता रहता है। माता के ही अवयव भोजन को पकाकर प्लैसेण्टा में भेजते हैं; जिससे बच्चे को पुष्टिकर-पदार्थ प्राप्त होता है। बच्चे को निस्सार-पदार्थ त्यागने की भी जरूरत होती है—यह काम भी माता के ही जिम्मे हैं; माता के ही अवयव यह काम भी करते हैं। माता के ही फेफड़े बच्चे को शुद्ध हवा प्रदान करते हैं और अशुद्ध को बाहर निकालते हैं। प्लैसेण्टा एक और खास काम करता है—माता के रक्त में यदि किसी रोग के कीटाणु आ-जायँ तो उन्हें बच्चे के रक्त तक नहीं पहुँचने देता।- उसी प्लैसेण्टा में ज़हर रह जाने के कारण अनेक माताओं की मृत्यु हो जाती है। स्तन केवल बच्चों के लिये ही हैं—माता का इससे कोई उपकार नहीं होता। इसके बाद प्रसव करने के समय तो माता को बच्चे के लिये कठिन कार्य करने पड़ते ही हैं। प्रसव के उपरान्त भी कई दिनों तक अपने ही रक्त से बच्चे के लिये खुराक भी तैयार करना पड़ती है। साथ ही कई दिनों तक तक सहानुभूति, निस्वार्थता, त्याग और प्रेम के साथ बच्चे की हिफ़ाज़त भी करना पड़ती है। सन्तान उत्पन्न करने में और उसके लालन-पालन में माता के सामाजिक आचार और स्वधर्म का विकास कितना अधिक हो गया है!

इन प्लैसेण्टेलिया जीवों में से ही मनुष्य भी एक है—पैदा होने के समय वह कितना असहाय रहता है; चलना-फिरना, उठना-बैठना तो दूर रहा वह रेंग भी नहीं सकता! इसे जीवित

रखने के लिये कितने अविश्रान्त-परिश्रम और निस्पृहता की जरूरत होती है। मनुष्य के नन्हे से बच्चे का पालन-पोषण कितना कठिन है—जरासी सुस्ती जरासी भूल से बच्चे का प्राणान्त हो जाता है। दिनों, सप्ताहों और महीनों तक ही नहीं वर्षों पर्यन्त इस प्रकार माता को पूरी मेहनत के साथ बच्चे की रक्षा करना पड़ती है। यदि सहानुभूति, प्रेम, निस्वार्थता, त्याग आदि कोमल-भावों का विकास नारी-हृदय में नहीं होता; यदि स्वधर्म-परायणता (मानवता) नारी में नहीं होती—तो मानव-वंश अब तक मटिया-मेट हो गया होता।

प्रेम के मधुर अनुभवों के उपरान्त नारी मीठे-भय और आशामयी-भावनाओं के साथ गर्भ धारण करती है, तथा नौ महीनें बीमार-सा रहने के बाद शिशु को जन्म देती है। उस समय नारी असह्य-वेदना और भयंकर पीड़ा सहती है। उस महा-भयंकर प्रसव-वेदना के पश्चात् पीड़ित दशा में भी जो अपूर्व सुख-अपूर्व आनन्द मिलता है—वह केवल नारी ही जानती है। शिशु के जन्मते ही नारी में पूर्ण-कोमल भाव जागृत हो जाते हैं—मानव-धर्म (स्वधर्म) नारी में पूर्ण विकसित हो उठता है। इससे प्रेरित होकर नारी बिना आराम किये तुरन्त ही शिशु के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेती है—वह माता बन जाती है। उस समय माता कितना श्रम करती है, कितना कष्ट उठाती है और प्रेम, सहानुभूति, निस्वार्थता, त्याग आदि कोमल-भावों (मानवधर्म) की मात्रा उसमें कितनी अधिक होती है यह कहना कठिन है।—माता की अध्यक्षता में ही मानव इसका

परिचय और ज्ञान पा सकता है। माता अपने धर्म-पालन में इतनी तत्पर रहती है कि मनुष्य की अत्यन्त-आवश्यक निद्रा को भी वह भूल जाती है। महीनों और वर्षों तक ऐसा ही होता है कि माता रात-बीते तक आराम नहीं कर पाती—बीमारी के कारण बच्चा रोता है, चीखता है; उसकी पीड़ा रह-रह कर माता के हृदय को चीरे डालती है। वह अपने दुर्बल हाथों से रोते हुए बीमार बच्चे को लेकर अकेली घूमती हुई बहलाती है। जब माता यह कार्य करती है तो कोई उसे शाबाशी नहीं देता, और न वह इस कार्य को बहुत बड़ा समझ कर पुरस्कार या प्रशंसा की आशा से ही करती है। इसके उपरान्त भी बालक के युवा होने तक—अपनी मृत्यु पर्यन्त उसकी रक्षा करती रहती है—उसके लिये शुभकामनाएँ रखती है। क्या इसमें भी नारी का कोई स्वार्थ निहित है? निस्सन्देह, नारी प्रकृति की विकसित-कृति है और नारी में वह वस्तु मौजूद है—जिसे मानव शताब्दियों से बाहर खोज रहा है तथा तमाम 'वाद-विवादों और सिद्धान्तों की भूल-भुलैया में भटक रहा है।'

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जनन-प्रवृत्ति से ही सहृदयता और अन्य कोमल (उच्च) भावों की उत्पत्ति हुई है तथा; जीवन को बढ़ाना, क़ायम रखना और उसकी सेवा करना ही जनन-प्रवृत्ति का धर्म है। अतएव जननित्व ही मनुष्य (मानव-धर्म) का पूर्ण रूप है—अर्थात्, मानव-समाज में नारी ही मानव-धर्म की प्रति-मूर्ति है।

ग—मानव-धर्म की स्थिति

स्वधर्म (कोमल-भावों) की स्थिति हृदय में है और कर्म की मस्तिष्क में। अन्य प्राणियों के धर्म और कर्म का विकास समान है; वे धर्म के अनुरूप ही कर्म करते हैं—अर्थात् उनका कर्म धर्माधीन है। किन्तु मनुष्य की इक-तरफा उन्नति हुई है—मनुष्य के मस्तिष्क का ही विकास हुआ है—अर्थात् मनुष्य का कर्म धर्माधीन (हृदयाधीन) नहीं है। जब कि कर्म मीलों आगे बढ़ चुका है, धर्म मुश्किल से चन्द गज ही आगे बढ़ पाया है। आज मस्तिष्क के कर्म के बोझ से हृदय का धर्म मृत-प्राय हो गया है। इसी कारण मनुष्य धर्म (प्रकृति) के विरुद्ध कर्म करने में स्वतन्त्र और समर्थ है।

कोमल भावों को हृदय के भाव कहने की एक ऐतिहासिक परिपाटी चली आ रही है। लेकिन जब हम ने अपने विषय को प्रतिपादन करने के लिये विज्ञान (प्रकृति के नियमों) को आधार माना है, तो विज्ञान का कथन है कि विचारों का केन्द्र मस्तिष्क है—हृदय में कोई विचार नहीं उटते। किन्तु फिर भी कोमलभावों का हृदय से सम्बन्ध है—क्योंकि विज्ञान का कथन है कि प्रत्येक विचारों का शरीर पर कुछ न-कुछ प्रभाव गिरता है और यह प्रभाव-कार्य मस्तिष्क के संकेत से हृदय द्वारा कार्यान्वित होता है। मस्तिष्क पहले "अड्रेनल ग्रन्थि" को संकेत देता है— जो पसलियों के अन्दर गुर्दों के भीतरी छोर पर हैं। अड्रेनल रुधिर-धारा में एक प्रकार का रस छोड़ते हैं। वह रस सीधा रुधिर के साथ पहुँच कर हृदय की गति को तेज करता है;

जिससे रक्त का वहाव शरीर में तेज़ी से दौड़ जाता है और उस प्रभाव को हम साफ़-साफ़ अनुभव करते हैं। हर्ष, विषाद, क्रोध, भय आदि मोटे-भावों का प्रभाव इतना अधिक होता है कि वह सरलता से ज्ञात हो जाता है; किन्तु प्रेम, सहानुभूति, दया आदि और घृणा, ईर्षा, द्वेष आदि का प्रभाव इतना हल्का होता है—जिसको प्रत्येक मनुष्य पूर्ण-अनुभव नहीं कर सकता।—यह कार्य मस्तिष्क की कोमलभावों को ग्रहण करने वाली मज्जा पर निर्भर है। तभी तो कई पिछड़ी-जातियों में प्रेम, सहानुभूति, दया आदि भाव बिल्कुल नहीं पाये जाते।—वे अक्सर एक दूसरे के प्रति उदासीन और शुष्क रहते हैं, कारण-वश वे कभी प्रसन्न या भयभीत होना ही विशेषतः जानते हैं। फ़िजियन, वेण्ड, कूकी, अशाण्टी, डमारा, वुशमैन, मारुट्स आदि जातियों के लोगों के वारे में लिखा गया है कि उन्हें रक्तपात अत्यन्त प्रिय होता है—किसी मनुष्य या पशु को घोर-यन्त्रणा से लोटते देखकर उन्हें असीम-आनन्द होता है। डमारा लोग झोपड़ी से अलग, अग्नि से दूर, ठंडे में वीमार आदमी को फेंक देते हैं; ताकि उसकी मृत्यु शीघ्र ही हो जाय—यहां तक कि माता अपने बीमार बच्चे की भी रक्षा नहीं करती। तात्पर्य यह कि कोमल-भावों की स्थिति हृदय में कहना कोई अवैज्ञानिक ढंग नहीं है।—क्योंकि जो भी भावों के उद्गम और ग्रहण करने का स्थान मस्तिष्क है, तो भी कोमल-भावों का अनुभव हम हृदय द्वारा ही करते हैं। अस्तु, जिन लोगों में कोमल-भावों को ग्रहण करने की जितनी अधिक क्षमता है अथवा जिन जातियों में जितनी अधिक सहृदयता

है; वही सच्चे मानी में उस प्रमाण में विकास-शील है। और क्योंकि, नारी कोमल-भावों (मानवधर्म) की प्रतिमूर्ति है; इसलिये वह मानव-समाज का हृदय है—एक मुख्य-अंग है।

यदि मानव समाज के मुख्य अंग—हृदय में खराबी आकर रक्त दूषित हो गया हो तो शरीर पर नाना-प्रकार के रोगों का आक्रमण होते रहना स्वाभाविक ही है। और यदि ऊपरी-रोग का इलाज किया गया तो—वह दब अवश्य जाता है; किन्तु कुछ अर्से बाद पुनः नये रूप में पैदा होकर शरीर को पीड़ित करने लगता है। बीमारी की जड़ का इलाज करने के बजाय; शरीर (ऊपरी-रोगों) पर चाहे कितना ही गहरा नश्तर लगाया जाय और कितना ही जहरीला मरहम चुपड़ा जाय; शरीर रोगी और अस्वस्थ ही रहेगा। तात्पर्य यह कि जब तक मानवसमाज के हृदय—नारी का उचित उपचार नहीं किया जाता तब तक तमाम ऊपरी उपचार (सुधार) व्यर्थ सिद्ध होते रहेंगे!

५

नारी

यदि हम किसी पेड़ की जड़ ही कुचल दें तो उसका सारा ऊपरी ढाँचा किस काम का? अगर हम किसी का सर ही कुचल दें तो शरीर की क्या दशा होगी?—पेड़ एक पिंजर-सा सूखा ढाँचा और शरीर निकम्मा-गन्दा! नारी को गुलाम बनाकर यही दशा मानवसमाज की कर डाली गई है।

क—नारी की स्थिति

आज नारी की महत्ता पूर्ण नहीं तो कुछ अंशों में अवश्य स्वीकार की जा चुकी है। सैद्धान्तिक-रूप से नारी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखी जाती सभी उसे शिक्षित और स्वतन्त्र करने के पक्ष में हैं; उसे उचित हक़ और सहूलियतें दे देने के इच्छुक हैं। आज यह मान लिया गया है कि केवल पुरुष अपूर्ण है; खुदकी, समाज की और देश की उन्नति करने में वह अकेला असमर्थ है। हमारे कुछ प्राचीन-शास्त्रकारों ने भी यही अनुभव किया है—

नारित्व और मातृत्व के प्रति बहुत कुछ सम्मान प्रदर्शित किया है और नारी को देवी, लक्ष्मी, अर्धाङ्गिनी आदि उपमाओं से अलंकृत किया है। आज नारी को राष्ट्र की जननी और निर्मात्री कहा जाता है।

आज मालिक गुलाम के प्रति दया दिखला रहा है; शासक शासित के प्रति उपकार करने जा रहा है—सहानुभूति प्रदर्शित कर रहा है—उसके हक़ लौटा देने का विचार कर रहा है। गुलाम से पूरा-पूरा फ़ायदा उठाने की गरज़ से मालिक पशोपेश में है कि गुलामी की जंजीर किस हद्द तक ढीली छोड़ी जाय; ताकि लाभ का अवरोध न हो। तभी तो वह अपने दास की ओर मुख़ातिब होकर बाल-विवाह के विरोध और विधवा-विवाह, तलाक़, वारसा, स्वशासन आदि के समर्थन द्वारा गुलामी की जंजीर ढीली करने लगा है। इसे कहते हैं—आधुनिक-बहुरूपी-स्वतन्त्रता या पाश्चात्य—राजनीति!

खैर कुछ भी हो लक्षण बुरे नहीं हैं। पुरुष (मालिक) वर्ग न्याय की ओर झुक रहा है; सहानुभूति और त्याग का उसके हृदय में विकास हो रहा है। आज पुरातन और नवीन में संघर्ष चल रहा है, हिंसक-लोभी पशुत्व और ज्ञानयुत मनुष्यत्व में कशमकश जारी है, असत्य और सत्य में संग्राम छिड़ गया है। अभी मालिक वर्ग—पुरुष, उन्मुक्त-नारी को शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखता है; क्योंकि उसके परम्परा-गत संस्कारों और अधिकारों की जड़ पर ही कुठाराघात होता है। मालिकवर्ग की अन्तिम उदारता यह है कि अपने खास-स्वार्थों का बोझ तो

गुलाम पर रखना ही चाहता है।—पुराने मिथ्या-विश्वासों के संस्कार; अपने प्रभुत्व और उसके दासत्व को एकदम नामंजूर नहीं कर पाते। किन्तु क्या यह अन्याय और बेईमानी नहीं है?

इस प्रकार धीरे-धीरे अधिकार लौटाने के मामले सदा विवादग्रस्त रहते हैं।—कभी तोल-नाप और हिसाब-किताब सही नहीं बैठता और अन्त में झगड़े की नौबत आती है। एवं ऐसे मामले ज्यादा पेंचीदा तब हो जाते हैं, जब प्रत्येक समाज अपनी नारी की स्थिति—अपने गुलाम की हालत को बेहतरीन और आदर्श बतलाता है; सगर्व सन्तोष प्रकट करता है!

"स्वतन्त्रता कितनी आवश्यक वस्तु है"—इसे आज समस्त संसार ने अनुभव कर लिया है। इस युग में आधी-दुनिया (नारी) को गुलाम रखने का समर्थन, शायद डिक्टेटर-मनोवृत्ति का व्यक्ति ही कर सकेगा।—किन्तु अभी पुरुषवर्ग में डिक्टेटरी की भावना शेष है—वह अपने लिये नारी का उपभोग और उपयोग करने का लोभ सर्वथा नहीं त्याग पाया है; वह अपने बगैर नारी की अलग हस्ती स्वीकार करने में हिचकता है। इसका कारण है—पुरुष द्वारा नारी का कामुक उपयोग। पुरुष द्वारा अभी भी यौवन, सौन्दर्य और जनन-क्षमता के पैमाने से ही नारी का मूल्य आँका जाता है। अलावा पुरुष की ईमानदारी (?) यह कि वह नारी की स्वच्छन्दता—उन्मुक्तता पर निस्संकोच व्यभिचार-दुराचार का दोष मढ़ देता है। ईश्वर-देवता, स्वर्ग-नर्क, लोक-परलोक, आचार-सदाचार आदि बड़ी-बड़ी कल्पनाओं के वाद और आत्मा-परमात्मा, भौतिक-अभौतिक, शरीर-मन, मुक्ति-

मोक्ष आदि महान्–दार्शनिक व्याख्याओं के उपरान्त आज तक के लिखने और बोलने वाले विद्वानों, समाज-सुधारकों और नेताओं ने सुन्दर-सुन्दर अलंकारिक शब्दों से नारी को सजा कर अन्त में यही बात कही है कि इस दिशा में नारी ने पुरुष का आधिपत्य ससम्मान शिरोधार्य करना ही चाहिये—यही शुभ है! यदि नारी पुरुष का यह अधिपत्य अस्वीकार करती है तो धर्म, सदाचार, नैतिकता आदि की दुहाई देकर शोर मचाया जाता है। पुरुष अपने गुलाम के प्रति अन्य मामलों में उदारता का परिचय देकर याय करने को तत्पर हो सकता है, मगर इस मामले में उसके सामने ईश्वर वाक्य भी अर्ज के बतौर पेश कर दिया जाय तो शायद वह ऐसे ईश्वर और उसके वाक्य दोनों को ठुकरा देगा—शायद यह ईश्वर के बाप का दिया हुआ उसका पुश्तैनी-हक़ है। इसी अपने हक़ पर मद्देनजर रखते हुए पुरुष नारी को आर्थिक, वैवाहिक, सामाजिक, नैतिक आदि बन्धनों में जकड़े रखना उचित समझता है—और नारी के लिये शिक्षा, समाज आदि क्षेत्रों की सीमा बाँधना चाहता है। नारी सदा पुरुष की दासी बनी रहे और उस पर पुरुष का निरंकुश-शासन कायम रहे—क्या यह धर्म, सदाचार, और नैतिकता है?

इस प्रकार व्यवस्था के मूल में ही अशुद्धता (मालिक-गुलाम) कायम रखते हुए—अर्थात् प्रथम-सीढ़ी पर कदम न जमाते हुए, बेसिलसिले-वार एकदम उछलकर ऊँची-सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न करना क्या चढ़ने का सही तरीका है? बार-बार असफल-प्रयत्न (विप्लव-क्रान्ति) के उपरान्त, पुनः-पुनः गिरकर

हाथ पैर टूटने पर—प्रत्येक बार कहा जाता है—"अंगूर खट्टे हैं।"—और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का मक़सद पूरा नहीं होता; मूल में ही रोग के कीटाणु रह जाते हैं। आधुनिक-स्वतन्त्रता का कहना है कि शरीर स्वस्थ होने पर कीटाणु स्वयं नष्ट हो जायँगे और स्वच्छन्दवाद का-सन्देश है कि कीटाणु नष्ट हो जाने पर ही शरीर स्वस्थ होगा।

आज नारी की आवाज़ है—हमारी ठेकेदारी करने की पुरुष-वर्ग को जरूरत नहीं; हम लकड़ी-लोहा नहीं है जो घुन-जंग लग जायगा! हमें मुक्ति चाहिये; हमारे धर्म, कर्म, सदाचार नैतिकता की हम खुद जिम्मेदार हैं! यदि हम अच्छे काम करेंगी तो हमारी उन्नति होगी, हमें यश मिलेगा अथवा स्वर्ग में जायँगी—और यदि बुरे काम करेंगी तो पतन होगा, अपयश मिलेगा या मरने पर नर्क में जायँगी! इसके लिये हमारा ठेकेदार बनने की या ईश्वर के पास हमारी सिफ़ारिश करने की पुरुष को जरूरत नहीं!

वास्तव में नितान्त सत्य है—स्त्री-पुरुष के मामले में इक-तरफ़ा फ़ैसला हुआ है। यदि ऐसा नहीं है तो पुरुषों के लिये-बहुविवाह, रखेलियाँ, मठ, देवदासियाँ, वेश्यालय क्यों- तमाम सम्पत्ति, व्यवस्था, उत्पादन आदि पर पुरुष का ही अधिकार क्यों? और स्त्री के लिये—पुरुष के उपयोग में आते रहना, भ्रूणहत्याएँ, वेश्यावृत्ति, चहार-दीवारी, चूल्हे-चक्की क्यों? तात्पर्य यह कि पुरुष-वर्ग की इस ठेकेदारी-प्रथा को कायम रख कर व्यभिचार की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं की जा सकती। क्योंकि

पुरुषवर्ग ही कर्ता-धर्ता और व्यवस्थापक होने से—यही स्त्रीवर्ग की सामाजिक-स्थिति और व्यभिचार का जिम्मेदार होते हुए भी सारा अपराध स्त्रीवर्ग पर ही थोप देता है और स्वयं को इन बुराइयों की जिम्मेदारी से साफ़ बचा लेता है। उदाहरण के लिये—हम पशु-पक्षियों के यौन-सम्बन्ध को व्यभिचार नहीं कह सकते; क्योंकि उनमें नर अपनी प्राकृतिक-भूख जागने पर ही इस ओर प्रवृत्त होता है और साथ ही मादा की पूर्ण-स्वीकृति भी रहती है। किन्तु मानव-समाज में पुरुषवर्ग ही सब-कुछ समेटे हुए है—शिक्षा, शासन, सम्पत्ति, शक्ति आदि के क्षेत्रों पर पुरुष का ही एकाधिकार है; और नारी है इन सब से वंचित, मजबूर—पुरुष की आश्रिता मात्र। ऐसी दशा में यदि पुरुष अपना धर्म—अपनी प्रकृति खो बैठा हो और शिक्षा, शासन, सम्पत्ति, शक्ति के प्रभाव से नारी का कामुक-उपयोग करने लग गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।—साथ ही, पुरुष के पतन के साथ नारी का भी पतन होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हम देखते हैं कि नारी को शिक्षा से वंचित रख, अपने बुद्धि-बल से नारी को अन्धविश्वासी-मूर्खा बना, शासनशक्ति से अपने आधीन कर, सम्पत्ति से उसे वंचित रख—मजबूरी में फँसा कर, शक्ति द्वारा व्यभिचार-बलात्कार-अत्याचार आदि करते हुए—पुरुष-वर्ग नारी का कामुक-उपयोग धड़ल्ले से कर रहा है। आज पूँजीवादी-युग में तो पूँजी की ताकत से नारी का कामुक-उपयोग और उसका सौदा खुले बाजार हो रहा है और दिनों-दिन तरक्की करता जा रहा है!

ख—विवाह-संस्था

इन सब का संस्कृत रूप—नारी की दासता का सुधरा हुआ रूप विवाह व्यवस्था है। विवाह द्वारा स्त्री पुरुष के हवाले कर दी जाती है; फिर वह स्त्री पुरुष की है। पुरुष उसका मनमाना उपयोग कर सकता है। पुरुष स्त्री की इच्छा-अनिच्छा की तो परवाह करता ही नहीं है, स्वयं की अनिच्छा (प्रकृति-अभूख) की भी अवहेलना करता है—वासना को बलात्-जाग्रत कर उसकी तृप्ति में प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप स्त्रियों को प्रतिवर्ष बच्चे प्रसव करना पड़ते हैं; वे अशक्त और रोगी हो जाती हैं तथा इसी कारण उनकी मृत्यु भी बहुतायत से होती हैं। इस प्रकार पुरुष तो व्यभिचार की ओर प्रवृत्त होता ही है, स्त्रियों को भी बलात् अपना साथी बनाता है और उसी साँचे में ढालता है। विवाह-बन्धन पूर्वीय-देशों में ही अधिक कड़ा है; और व्यभिचार अर्थात् सहवास की संख्या का जहाँ-तक सम्बन्ध है—हमने बाजी मार ली है। "श्री थूरो" ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि चीन, भारत या मुस्लिम देशों में विवाह द्वारा 'लाइसेन्स' लेकर पुरुष किस प्रकार बड़ी तादाद में सहवास करते हैं। पश्चिमी-देशों में एक स्त्री कितने ही पुरुषों से और एक पुरुष कितनी ही स्त्रियों से सहवास करते हैं यह बात है सच—यहाँ के विवाह-बन्धन ने इस दिशा में स्त्रियों पर अवश्य अंकुश रखा है, किन्तु पुरुष इस अंकुश से बरी है। पुरुष अपनी स्त्री से अधिकार-पूर्वक सहवास करता है और समाज में भी अन्य स्त्रियों से सहवास करना कानूनन कोई खास जुर्म नहीं है;

हाँ, स्त्रियों के लिये यह जरूर जुर्म है।—इससे इस अंकुश का लाभ पश्चिमी-दोष के सामने गिर जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि पाश्चात्य-पद्धति आदर्श है। विवाह-व्यवस्था किसी भी प्रकार की हो, उसके द्वारा स्त्री से मनमाना व्यवहार करने का पुरुष को अधिकार और मौका दिया ही जाता है।

ग—विवाह की उत्पत्ति

कुछ वर्णन किया जा चुका है कि पितृयुग में विवाह की उत्पत्ति हुई थी और नारी के स्वाभाविक स्वत्वों को वहीं से घुन लगना शुरू हुआ था। अभी सती-साध्वी शब्द की उत्पत्ति नहीं हुई थी, किन्तु नारी को धीरे धीरे दासी के रूप में गढ़ने का काम प्रारम्भ हो गया था। जन-बल का महत्व ज्ञात हो चुका था और नारी के द्वारा अधिक से अधिक जन-संख्या की वृद्धि का प्रयत्न जारी हो चुका था। जन-संख्या की वृद्धि में रुकावट न आने पाय—इसलिये युद्ध और लूट-पाट के कार्य पुरुष ने अपने जिम्मे लेकर, नारी को एक प्रकार से सामाजिक-समानता और श्रम से ही अलग कर दिया था; जिससे समाज पर पुरुषों का एकाधिकार स्थापित हो गया—। क्योंकि लूट-पाट पुरुष करता था, इसलिये लूट के धन—पशुओं और दास-दासियों पर पुरुष का अधिकार ही लाजमी था। दास-दासी, खेत, पशु आदि का मालिक अनायास ही पुरुषवर्ग बन गया और इनके द्वारा अधिक उत्पादन करके वह अधिक पूँजी का स्वामी बनने लगा। नारी इन सबसे वंचित रही—वह जो कुछ श्रम कर सकती थी, वही उसकी जीविका थी। बच्चे का भार भी नारी

पर ही पड़ा—क्योंकि बच्चे नारी जनती थी पुरुष नहीं; फिर बच्चे के लालन-पालन का भार पुरुष क्यों संभाले? इस प्रकार नारी और बच्चों का स्थान समाज में अव्यवस्थित हो गया—गिर गया।

इस समस्या का हल विवाह द्वारा किया गया। समाज को व्यवस्थित करने के लिये नारी और बच्चों का भार किसी के जिम्मे करना जरूरी था—इस जिम्मेदारी को पुरुष ही संभाल सकता था; क्योंकि वह समर्थ था। स्त्रियों का बटवारा करके वे पुरुषों के हवाले कर दी गईं। जन-संख्या-वृद्धि के लिये भी यह व्यवस्था उत्तम सिद्ध हुई—क्योंकि, अब नारी स्वच्छन्द नहीं थी; वह पुरुष की आश्रिता थी और वह मनमानी नहीं कर सकती थी। इस प्रकार इस विवाह-व्यवस्था द्वारा नारी का स्थान सामाजिक-व्यक्ति से पुरुष की सम्पत्ति के रूप में बदल गया। विवाह का उद्देश्य था—"स्त्री पर पुरुष के अधिकार की सामाजिक स्वीकृति।" विवाह द्वारा एक या एक से अधिक स्त्री को समाज पुरुष के हवाले कर देता था। विवाहिता स्त्री और उसके बच्चों पर पुरुष का पूर्ण अधिपत्य स्वीकार कर लिया गया था। स्त्रियों के श्रम पर भी पुरुष का ही अधिकार था; जैसे कि गुलामों के श्रम पर मालिकों का—अब विवाहिता स्त्रियों के श्रम का लाभ जुदा नहीं था।

इस प्रकार सैद्धान्तिक-रूप से नारी को पुरुष की सम्पत्ति तो बना दिया गया, किन्तु अभी उस पर अमल करना बाकी था; उस पर काबू पाना आसान नहीं था। नारी, पुरुष की कामिक-

दासता में अवश्य बंध गई थी, किन्तु अभी वह मन से गुलाम नहीं बनी थी—उसका यौन-सम्बन्ध स्वच्छन्द था। नारी पुरुष की आश्रिता अवश्य थी, किन्तु अभी पूरी दासी नहीं बनी थी—विवाह-संस्था शिथिल थी। पुरुषवर्ग ने धीरे-धीरे विवाह-संस्था को मजबूत बनाने के लिये सतत-प्रयत्न किये। ज्यों-ज्यों विवाह-संस्था की कमजोरियां दूर होती गईं और उनका सुधार (?) होता गया; त्यों-त्यों नारी पर पाबन्दियाँ बढ़ती गईं और वह पुरुष की दासता के साँचे में ढलती गई। भारत इस दौड़ में सबसे आगे रहा है।

इन हजारों-साल पुराने और आज के विवाह-उद्देश्यों में हम तनिक भी अन्तर नहीं पाते हैं—वही उद्देश्य आज नारी की छाती पर लदा हुआ है। आज एक या एक से अधिक स्त्री (बालिका) को विवाह-संस्था द्वारा समाज पुरुष के हवाले कर देता है। पुरुष उसे अपने घर ले आता है। यहाँ से उसका नया-जीवन शुरू होता है—नया घर, नया वातावरण और अपरिचित मनुष्यों के बीच वह एकदम ढकेल दी जाती है। जिस प्रकार एक कैदी को नये नियम, नये घर, अपरिचित मनुष्यों (कैदियों) व अधिकारियों के मध्य जेल में ढकेल दिया जाता है और रिहाई के समय तक उसे विवश होकर—अपनी भावनाओं को दबा कर वहाँ के अनुकूल आचरण करना पड़ता है।—यदि वह उलंघन करता है—तनिक भी अपनी इच्छानुकूल आचरण करता है, तो यह अपराध है और वह दण्ड पाता है। मगर कैदी तो सजा की मियाद के बाद छुटकारा पा जाता है और स्वतन्त्र हो जाता

है; लेकिन स्त्री को आजन्म कारावास में रहना पड़ता है—उसे मृत्यु-पर्यन्त छुटकारा नहीं मिलता। हाँ, उसे 'ए' क्लास व सुविधा दी जा सकती है, और विशेष कैदी को (हमारे नेताओं की तरह) एक जेल से दूसरी में बदला भी जा सकता है; मगर यह बदला जाना है बुरी बात--सभ्यता के खिलाफ़! स्त्री तो पैर की जूतियाँ हैं—भला कैदी तो आखिर कैदी ही है, वह एक ही जेल में सन्तोष-पूर्वक क्यों नहीं रह सकता! कई पुराने कैदी जेल से छूटते समय अन्य कैदियों से गले मिलते और प्रेमाश्रु बहाते देखे जाते हैं।—यदि नारी को बचपन से ही यह शिक्षा दी जाय कि उसका सच्चा घर (जेल) पति का घर है वहाँ का प्रधान अधिकारी (पति=स्वामी=मालिक) ईश्वर से भी बड़ा है, उसकी सेवा करना और आज्ञाओं का पालन करना ही स्वर्ग की सीढ़ी है—तथा, अन्य अधिकारियों (पति के परिवार को प्रसन्न रखना और उनकी सेवा करते रहना ही उसका धर्म है। और जब यह शिक्षा उसके शुभ-चिन्तक—माता-पिता ही दें, तो कोई आश्चर्य नहीं कि नारी संहर्ष वह गुलामी स्वीकार कर ले और पति के अभाव में अपनी हस्ती मिटा डालने में अपना गौरव समझे! यह आदर्श हर देश में आदरणीय है। इस आदर्श से विपरीत-आचरण को नारी-स्वतन्त्रता का हिमायती पाश्चात्य समाज भी हीन दृष्टि से देखता है, फिर उस समाज का तो कहना ही क्या—जो इस आदर्श का गुलाम हो! वह समाज़ नारी पर जो भी अत्याचार कर डाले उसके विधान-शास्त्र में वह पुण्य है!

घ—भारतीय नारी

"श्री शरत्बाबू" ने भारतीय-नारी का अत्यन्त-रोमांचक वर्णन किया है—विधवा-विवाह को किसी समाज में सम्मान प्राप्त नहीं हुआ; सभी अश्रद्धा की दृष्टि से देखते आये हैं। फिर जिस समाज में यह प्रथा बिल्कुल निषिद्ध हो, वह अगर विधवा को जला कर मार डालने में ही अपना गौरव समझे—तो कोई आश्चर्य नहीं! जो समाज पति के बिना नारी की हस्ती ही नहीं मानता, जिसकी समझ में परलोक का विशेष महत्व है; वह समाज यदि उस पतिहीना-नारी को परलोक में उसके पति के पास भेजने का इन्तिज़ाम करे—तो इससे अधिक शुभ-कार्य क्या हो सकता है? "एक पन्थ दो काज" इसलोक और परलोक दोनों की बात बन जाती है। पूर्वज ऋषि-मुनि कह गये हैं कि विवाह का आदर्श प्रजोत्पत्ति (बच्चे पैदा करने की मशीन) है और पुरुष प्रजोत्पत्ति का कर्ता! स्त्री का पति-सेवा के सिवाय कोई धर्म-कर्म नहीं—पति ही स्वर्ग है, पति ही ईश्वर है! इसलोक में जिस स्त्री ने पति की सेवा की वह परलोक में भी करेगी और पति के साथ रहेगी.... ....! लेकिन कब, अगर कभी हम पहले परलोक पहुँच गये तो बैठे-बैठे कब तक इन्तिज़ार किया करेंगे? हम वहाँ वह यहाँ, हमारी सेवा कौन करेगा; और यदि वह यहाँ अलग ही प्रजोत्पत्ति का काम शुरू कर दे तो? .... हमारे पूर्वजों ने चाहे इसकी व्यवस्था न की हो हम जरूर करेंगे!

जिस समाज (टर्कोमैन कूकी, अंगमी आदि) ने चोरी-

डकैती की प्रशंसा की; वहाँ चोर-डाकुओं को गौरव प्राप्त हुआ, उनकी कब्रें तीर्थ-स्थान बन गईं और लोग वहाँ जियारत के लिये जाने लगे। जिस समाज में हत्या करना शुभ कहा गया; वहाँ के लोगों ने दिल भर कर हत्याएँ की। जिस (दहौमी, कूकी व आफ्रीका के कुछ अंशों की) जाति ने अपने मृत-राजा के पास परलोक में स्त्रियों और दासों को सेवा करने के लिये भेजना आवश्यक समझा; उसने वही कार्य पूरे आत्म-विश्वास और समारम्भ के साथ सम्पादित किया। जिस देश (जापान) ने आत्म-हत्या को वीरता और आत्म-सम्मान बतलाया; उस देश में आत्म-हत्या एक गौरव-पूर्ण और पवित्र कार्य माना गया। जिस राष्ट्र में युद्ध में मरना स्वर्ग-प्राप्ति का साधन और स्वतन्त्रता का सोपान कहा गया; उस राष्ट्र के लोगों ने उत्साह से युद्ध में भाग लिया और मारना-मरना प्रतिष्ठा का कार्य समझा। तात्पर्य यह कि जिस क्षेत्र के स्वामियों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये जो भी प्रचार किया, जिस कार्य को धर्म बतलाया, जिस काम की वाह-वाही की; उसको आधीनस्थ लोगों ने ईमानदारी के साथ स्वीकार कर लिया। ये भोले, सच्चे, ईमानदार या मूर्ख (?) आज भी अपने स्वामियों पर पूर्ण-विश्वास करते हैं और उन्हें अपना शुभ-चिन्तक समझते हैं। भला, मालिक लोग कभी किसी की बुराई कर सकते हैं; क्या उनके मन में पाप निवास कर सकता है? वे हमेशा सीधासच्चा-स्वर्ग का रास्ता बतलाँयगे! हाँ, इसके लिये परिश्रम और कर्मकाण्ड; कठिन और भयंकर जरूर करना पड़ेंगे! लेकिन स्वर्ग या मुक्ति (स्वतन्त्रता) की मंज़िल

भी आसान नहीं—कर्मकाण्ड जितना जटिल और भयंकर होगा, मंजिल उतनी ही आसान हो जायगी—देवता लोग उतने ही अधिक प्रसन्न होंगे—ऐश्वर्य-सुख भी उसी प्रमाण में बढ़ेगा।

इस प्रकार पुरुष-वर्ग ने अपना स्वार्थ सिद्ध कर लिया—अपने सुख-सुविधा की व्यवस्था कर ली। फिर वह सुख-सुविधा वास्तविक हो या काल्पनिक; इस दुनिया की हो या उस दुनिया की—उसने अपने सुभीते के सामने अन्य किसी बात की परवाह नहीं की।—और आज वह सभ्य बन कर गर्व पूर्वक कहता है कि "वे स्त्रियाँ धन्य थीं और वह समाज धन्य था, जिसमें स्त्रियाँ हँसती-हँसती चिता पर बैठ जाया करती थीं—तथा अपने स्वामी के चरण-कमलों को गोद में लेकर प्रफुल्लित-वदन से अपने आप को भस्म-सात कर दिया करती थीं।"

सती प्रथा पर प्रकाश डालते हुए "शरत् बाबू", लिखते हैं कि यदि स्त्री सहर्ष सती होती थी, तो फिर स्वामी की मृत्यु के बाद उसकी विधवा को एक कटोरा भाँग और धतूरा पिला कर बेहोश क्यों कर दिया जाता था? जब वह श्मशान की ओर ले जाई जाती थी; तब कभी हँसती थी—तो कभी रोती थी और कभी रास्ते में ही जमीन पर लोट कर सो जाना चाहती थी।—यही उसकी हँसी थी और यही उसका सहमरण के लिये जाना था। इसके बाद उसे चिता पर बैठा कर बाँसों की मचिया से दबा कर रखा जाता था। डर था कि सती होने वाली दाह की यन्त्रणा सह न सके। चिता पर बहुत अधिक राल और घी डाल कर इतना घना धूआँ कर दिया जाता था कि जिससे उसकी

यन्त्रणा देख कर कोई डर न जाय। इतने अधिक ढोल-ढक्के, करताल-शंख आदि जोर-जोर से बजाये जाते थे कि कोई उसका चिल्लाना, रोना-धोना या अनुनय-विनय नहीं सुन पाय।— यह था सह मरण........! वे लोग सचमुच ही विश्वास करते थे कि अपने कर्मों का चाहे जो और जैसा फल मिलता हो, लेकिन दो प्राणियों को एक साथ बाँध कर जला देने से परलोक में दोनों के एक साथ रहने की पूरी सम्भावना है।

जिस समय अंग्रेजों ने यह प्रथा कानूनन बन्द कर दी; उस समय टोलों और विद्यालयों के पण्डितों ने खूब चिल्लाकर और शोर मचाकर सभा-समितियाँ करके, राजे-रजवाड़ों से चन्दा लेकर, लन्दन तक अपील की थी। उस अपील में कहा गया था कि यह प्रथा बन्द कर दी जायगी तो हिन्दू-धर्म एकदम जड़ से उखड़ जायगा और हिन्दू एकदम धर्म च्युत हो जायँगे।

आगे श्री शरत् बाबू लिखते हैं कि यह अपील नामंजूर हो जाने पर धर्मध्वजियों को यह समझने में देर नहीं लगी कि हिन्दू-धर्म की बुनियाद दो-चार इंच धँस जाने से काम चल सकता है; मगर पोलिस के चक्कर में पड़ने से नहीं चलेगा।—अपना उद्देश्य इसलोक और परलोक में सुख उठाना है—तकलीफ नहीं! उन्होंने नया रास्ता ढूँढ निकाला; वे कहने लगे—म्लेच्छों ने हमारे धर्म पर ध्यान नहीं दिया; हम फिर नई व्यवस्था करेंगे— हम विधवाओं को देवी बना डालेंगे। इसके बाद धर्म, लोकाचार और सुनीति की दुहाई मचाकर, जितने प्रकार की कठोरताओं की कल्पना की जा सकती थी वे सभी; सद्य-विधवाओं पर लाद

कर उन्हें नित्य थोड़ा-थोड़ा करके देवी बनाने का काम शुरू कर दिया गया।

पुरुष चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगे—हमारी स्त्रियों के समान देवियाँ भला किस समाज में हैं?

अगर चारों ओर से किसी कार्य की प्रशंसा सुनी जाय, उसमें धर्म और महानता के आदर्श की गन्ध हो—तो ऐसी दशा में स्त्रियाँ जिनके आश्रित हैं उन्हें प्रसन्न रखना ही चाहेंगी।—ऐसी अवस्था में यदि वाहवाही और सुख्याति प्राप्त करने का लोभ पैदा हो जाय तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। "श्रीटाइलर" ने लिखा है कि कुछ आफ्रिका के सरदारों की पत्नियाँ बहुत पहले से ही अपने गले में फाँसी लगाने के लिये रस्सियाँ चुनकर रख छोड़ती हैं। "श्रीहरबर्ट स्पेन्सर" ने लिखा है कि फिजी-द्वीप में जब कोई सरदार मर जाता है, तो उनकी पत्नियाँ अपने पति की मृत्यु पर गला घोंटवा कर मरना एक पवित्र कार्य समझती हैं। "श्री विलियम्स" ने एक बार ऐसी स्त्री को किसी प्रकार बचा लिया था, पर वह रातों-रात भाग निकली और तैर कर नदी के उस पार जा पहुँची। वहाँ उसने अपने को अपनी जातिवालों के सामने उपस्थित कर दिया और अपने सम्बन्ध में उस बलि करने के लिये बहुत जोर दिया—जिससे वह अपने मन की क्षणिक दुर्बलता के कारण बच कर निकल भागने को राजी हो गई थी। "श्री विल्क्स" ने एक ऐसी स्त्री का वर्णन किया है, जिसने अपने बचाने वाले को अनेक दुर्वचन कहे थे और जो सदा उस बचाने वाले के प्रति घृणा प्रकट करती रही। डहोमी स्त्रियाँ

भी अपने पति की मृत्यु के उपरान्त आत्महत्या कर लेती हैं। अपनी माता को जीवित गाड़ते समय फिजी-द्वीप का एक आदमी कहता था कि माता के प्रेम के कारण ही मैं यह कार्य कर रहा हूँ और मेरे सिवाय अन्य कोई इस पवित्र-कार्य को नहीं कर सकता। मण्डान जाति की विधवाएँ अपने मृत-पति की खोपड़ी अपने साथ बिछौने में रख कर सोती हैं; जाड़े के दिनों में उसे ओढ़ने के नीचे दबाकर रखती हैं—यहाँ तक कि उसे गीत गाकर सुलाती भी हैं। मालगासी, छीप, बेचूआना व अन्य कई जातियों के घरों में भी पतिव्रता स्त्रियाँ पायी जाती हैं; किन्तु वहाँ के पुरुष बहु-विवाह तो करते ही हैं, बात-बात में स्त्रियों की हत्या भी कर डालते हैं—वहाँ की स्त्रियों का स्थान घर में पाले हुए पशु से बेहतर नहीं है।

अगर पतिव्रता स्त्रियों से ही किसी जाति के लिये स्वर्ग का द्वार खुल जाता है, तो हिन्दू जाति के पहले इन जंगली जातियों का हक़ है—बल्कि इन जातियों को गुरू मानकर हिन्दू जाति ने इस मामले में इनसे शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। मगर नहीं, स्त्रियों के प्रति पुरुषों के इन कृत्यों को कोई भी सभ्य-समाज निस्संकोच बर्बरता कहेगा। स्त्रियों पर पुरुषों के ज़ुल्मों का यह इतिहास पुरुषवर्ग के निरंकुश-शासन और विवाह-संस्था के पूर्ण-विकास का प्रतीक है। हम प्रत्येक रिवाज को मोह-वश सनातन कहने की भारी भूल करते हैं; क्योंकि हम वर्तमान को ही सीमित दृष्टि से देखते हैं।—यदि इससे कुछ ही दूर नज़र डाली जाय तो महाभारत काल में विवाह-संस्था बिलकुल शिथिल पायी जाती है।

सातों दीर्घतमा ऋषियों ने—जो आपस में भाई थे, एक ही स्त्री को लेकर अपनी ऋषि-यात्रा का निर्वाह किया था एवं इसी को आदिपर्व में सनातन-प्रथा कहा गया है। आदिपर्व में ही लिखा है कि उत्तर-कुरु में विवाह-प्रथा नहीं थी। अनुशासन-पर्व में लिखा है कि पहले विवाह-संस्था नहीं थी। माद्र देश में स्त्री पुरुषों का अभेद मिलन जारी था; जिसकी कर्ण ने काफ़ी भर्त्सना की थी। यह कथा तो सभी धर्मप्रेमी जानते हैं कि कुमारी गंगा से राजा शान्तनु पैदा हुए थे; उन्होंने सत्यवती से विवाह किया था—जो एक धीवर-कन्या थी और जो कौमार्यावस्था में ही पाराशर ऋषि के प्रसंग से महर्षि व्यास को जन्म दे चुकी थी। कुन्ती की भी कौमार्यावस्था में ही कर्ण पैदा हुआ था। जाबाल से सत्यकाम की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है कि वह स्वयं नहीं जानती थी कि वह किस पुरुष के प्रसंग से पैदा हुआ है। यदि प्रजोत्पत्ति करने में पति असमर्थ हो तो एक नियोग-प्रथा भी प्रचलित थी; नियोग द्वारा स्त्री अन्य पुरुष से सन्तान उत्पन्न करा सकती थी। अम्बालिका से व्यास द्वारा धृतराष्ट्र और पाण्डु इसी प्रकार उत्पन्न हुए थे। कुन्ती ने पाँच पाण्डवों को इसी प्रकार जन्म दिया था। वलिराजा ने अपनी पत्नी सुदेष्णा का नियोग गौतम ऋषि से कराया था—जिससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। शारदण्डायन राजा ने रास्ते से ब्राह्मण को बुलाकर अपनी पत्नी से संतान पैदा करवाई थी। सौदास राजा की स्त्री मदयन्ती का नियोग वशिष्ठ ऋषि से हुआ था। पत्नी को दान में देने और अतिथि की सेवा में भेजने की

प्रथा भी थी।....युवनाश्व ने अपनी प्रिय स्त्री को दान में देकर स्वर्ग प्राप्त किया। मित्रसह ने अपनी स्त्री वशिष्ठ को दे स्वर्ग प्राप्त किया। सुदर्शन ने अतिथि-सेवार्थ अपनी भार्या को दे अमर-कीर्ति प्राप्त की। बिल्वमंगल में वणिक अपनी पत्नी को अतिथि की शय्या पर भेजता है। उद्दालक की स्त्री को दूसरा ऋषि ले जाने लगा, तब उसके पुत्र श्वेतकेतु ने इसका विरोध किया; लेकिन उसके पिता ने इस प्रथा को धर्मानुकूल बतलाया। ....श्वेतकेतु ने आगे चलकर इस प्रथा के विरुद्ध तीव्र-आन्दोलन किया। ऐसे अनेकों दृष्टान्त हमारे धर्मग्रन्थों में भरे पड़े हैं; किन्तु शायद इन पर प्रकाश डालना हमारे धर्म-प्रेमियों को अरुचिकर है—और ये तो छिपा देने योग्य हैं!—या फिर सफ़ाई दी जाती है कि वह सतयुग था, लोगों में तप और सत था, जिसके बल से सब अशुभ भी शुभ हो जाता था। सूर्य-चन्द्र और देवता-लोग इसलोक में आकर सन्तान-दान देते थे! वह धर्म युग था!! इन विद्वानों से पूछना होगा कि आप मज़ाक़ तो नहीं कर रहे हैं?

किन्तु इन उदाहरणों से यह तात्पर्य नहीं कि महाभारत-काल में नारी पुरुष की गुलाम नहीं थी। वह सामन्त युग था और नारी पुरुष की सम्पत्ति-मात्र थी। पुरुष नारी को दान में दे सकता था; उसके द्वारा अतिथि-सत्कार कर सकता था और अन्य उपायों द्वारा नारी से प्रजा-वृद्धि भी करा सकता था। इसी कारण; आगे विवाह बन्धन दृढ़ होने पर—उसमें सुधार होने पर यह सब पाप में शुमार किया गया। उस समय नारी पर

पुरुष के एकाधिकार की बुनियाद पड़ चुकी थी। जो भी योग्य स्त्रियों का स्थान समाज में सुरक्षित था, तो भी दासी-अनुचरी के रूप में स्त्रियाँ व्यवहृत होती थीं।.......आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन किया गया है; जिसमें आसुरी-विवाह—नारी से बलात् विवाह करने को भी विवाह कहा गया है। उनमें पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति-मात्र उद्घोषित किया गया है—किसी भी पात्र को दान में देने का पिताओं को पूर्ण अधिकार प्राप्त है। नारी के लिये विवाह से पूर्व पिता के, विवाह के पश्चात् पति के और पति की मृत्यु के बाद पुत्र के आधीन रहने की व्यवस्था बतलायी गई है। नारी पुरुष की दासी है, उसे हर हालत में पुरुष की दासी ही बनी रहना चाहिये—फिर चाहे पुरुष कितना ही अयोग्य, निर्धन, अत्याचारी, दुराचारी और रोगी ही क्यों न हो! इसके समर्थन में कहा जाता है—"अहा...., वह नारी धन्य थी जो अपने कोढ़ी-पति को कन्धे पर बिठा कर वेश्या के यहाँ ले गई थी!"

कोई भी जमाना हो! पुरुष की मन्शा यही रही है कि वह अपनी सम्पत्ति—नारी के उपयोग द्वारा अधिकतम लाभ उठाता रहे।

च—पाश्चात्य-नारी

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या पाश्चात्य-समाज में नारी को उचित स्थान प्राप्त है? निश्चय ही कानून की किताबों में वहाँ नारी को पुरुषों के समान ही बहुत कुछ अधिकार प्राप्त हैं। शेष-दुनिया प्राचीन को थामे बैठी रही है और उन्होंने प्राचीन

अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों और विचारों को दफ़ना कर उनकी कब्र पर स्वनिर्मित-स्वतन्त्रता की स्थापना की है—उन्होंने कदम आगे बढ़ा दिया है।—इसी कारण वे अपनी शक्ति की इतनी उन्नति कर पाये हैं; इसी कारण उन्होंने संसार पर इतनी शीघ्रता से अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। लेकिन जहाँ शक्ति और शासन का साम्राज्य हो; वहाँ व्यक्ति गुलामी से कैसे बच सकता है?—वहाँ की नारी भी पुरुष-वर्ग के उपयोग की वस्तु है—दासी है। केवल अन्तर इतना ही है कि यहाँ उसलोक पर विशेष दृष्टि है और नारी का उपयोग व्यक्ति (एक पुरुष) करता है; एवं वहाँ उसलोक के बजाय इसलोक पर मद्दे-नजर रखते हुए नारी का उपयोग पूरे पुरुष-वर्ग के लिये विशेष-रूप से किया गया है। प्राचीन यूरोप पर नजर डालने से वहाँ की नारी की स्थिति काफ़ी स्पष्ट हो सकेगी।

"श्री गोवर्धनदास" ने नीति-विज्ञान में वर्णन किया है कि प्राचीन यूरोप में दो परिवारों के बीच बहुतसी लड़ाइयों का कारण स्त्री-प्राप्ति ही रहता था।—इसमें उन्हें दोहरा फ़ायदा था—प्रथम तो उनकी संख्या बढ़ती थी, दूसरे उनके द्वारा पैदा हुए बच्चों से उनका गौरव बढ़ता था। प्राचीन रोम के इतिहास में स्त्रियों के गिरफ्तार किये जाने के अनेकों उदाहरण हैं।—वहाँ की जन-संख्या इसी प्रकार बढ़ी थी। पोप और पादरियों ने व्यभिचार के अड्डे बना लिये थे और सारे ईसाई धर्म-स्थानों का ज़र्रा-ज़र्रा भ्रूण हत्या के रंग से पंकिल हो उठा था। ईसाई-धर्म में दिखावे भर के लिये स्त्रियों की उपेक्षा के भाव थे—

एक तरफ सभ्य-समाज स्त्री को घृणित, पतित, घोरपाप के गढ्ढे में डुबाने वाली कहकर सम्बोधित करता था एवं दूसरी ओर उसके यौवन-सौन्दर्य का उपयोग धड़ल्ले से जारी था। उस समय व्यभिचार के सिवाय स्त्रियों का कोई मूल्य नहीं था—ऐसी अवस्था में स्त्रियों के अधिकार की बात तो सोची ही कैसे जा सकती है! पादरियों द्वारा विवाह के समय स्त्रियों से जो-जो प्रतिज्ञाएँ कराई जाती थीं, उनमें आजीवन पुरुष की आज्ञानुवर्तिनी होकर रहने की ही बात मुख्य थी। कन्या के पिता को काफ़ी धन देकर ही कोई युवक मनमानी शादी कर सकता था। इसके सिवाय तत्कालीन-विवाहिता स्त्रियों को निम्नकोटि का समझा जाता था; जिससे कई स्त्रियाँ विवाह को ठुकरा कर वेश्या बनने में अपना गौरव समझती थीं। प्राचीन-रोम के "पेट्रिया पोटेस्टास" में "पेटर फेमिलिया" (कुलपति का अधिकार) मशहूर है—उसकी आज्ञा के बिना पुत्र या पुत्री विवाह तक नहीं कर सकते थे।—इन पिताओं को प्राण-दण्ड देने तक का अधिकार था। विप्लव के पूर्व तक फ्रान्स में भी पुत्र-पुत्रियों के साथ गुलामों का सा व्यवहार किया जाता था।—पिता पुत्रियों को मठों में कैद कर सकता था—संतान को सांसारिक-सुखों से आजीवन वंचित रखने का पिता को अधिकार था। "श्री लेकी" के कथनानुसार, स्त्रियों के मठ वेश्यालयों के समान थे; जहाँ भ्रूण हत्याएँ बड़ी तादाद में की जाती थीं। प्रत्येक नव-विवाहिता पर एक या एक से अधिक दिनों तक जमींदार और खासकर पादरियों का हक़ रहता था। धार्मिक-पदाधिकारी तो इतने व्यभिचारी और कामुक

हो गये थे कि प्रजा को राजा से प्रार्थना करना पड़ी थी कि पादरियों के अविवाहित रहने का नियम उठा लिया जाय। जर्मनी के शहरों में अन्य देशों के राजाओं के स्वागतार्थ वेश्याओं के झुण्ड के झुण्ड उपस्थित किये जाते थे।—गरमी-सोजाक की बीमारी प्रत्येक श्रेणी के लोगों में फैली हुई थी; पवित्र-पिता "दसवें लियो" से लेकर सड़क के फ़कीर तक इस बीमारी के शिकार हो चुके थे। "मिलन का आर्चविशप" इतना व्यभिचारी था कि अपनी भतीजी से भी संसर्ग रखता था। "ब्रेस्सिया" का पादरी स्त्रियों को उपदेश देता था कि तुम्हें केवल अपनी आमदनी का ही नहीं अपने दाम्पत्य-प्रेम का भी दशमांश पादरियों को प्रदान करना चाहिये। मजहबी-सभाओं में बड़े-बड़े पादरी अपनी वेश्याओं को बगल में लेकर सुशोभित होते थे और इन सभाओं में अविश्वासियों को जलाये जाने का हुक्म पास होता था। स्पेन के एक पादरी की सत्तर रखेलियाँ थीं। "ओलेकी" ने लिखा है कि पादरियों के इस आदर्श का समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था—नीति-निपुण पादरी भोली-भाली स्त्रियों को समझाते थे कि पति की गैरहाजरी में पादरियों के साथ प्रेम करने में कोई पाप नहीं है और भोली-भाली स्त्रियाँ इस निष्पाप-प्रेम (!) के सिद्धान्त को सहर्ष ग्रहण कर लेती थीं। सन् १४९० में केवल रोम में अड़सठ हजार वेश्याएँ थीं—रखेलियों और मठ आदि की स्त्रियों की तो गणना ही कैसे हो सकती है! लन्दन में पचास हजार वेश्याएँ थीं जब आबादी छः लाख थी।—सन् १९०८ तक वहाँ साठ लाख

की जन संख्या में बीस हजार वेश्याएँ थीं।

इन उदाहरणों से जाहिर होता है कि यूरोप में पुरुष-वर्ग द्वारा सामुहिक रूप से नारी का कामुक उपयोग हुआ है। पुरुष-वर्ग ने नारी को जिधर चाहा उधर घुमाया, जैसा चाहा वैसा नचाया—पुरुष की पशुता नारी के साथ खुलकर खेली! आज भी पुरुष-वर्ग के मूल-स्वार्थों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता—हाँ, उस पर सभ्यता और स्वतन्त्रता (?) की भड़कीली-चादर अवश्य डाल दी गई है। आज का यूरोप नारी-स्वतन्त्रता का चाहे जितना दम्भ भरे; नारी, स्वार्थ-सिद्धि करने का पुरुष (शासकवर्ग) का साधन-मात्र है। जरूरत पड़ती है तो वहाँ का समाज मौज-शौक के लिये नारी से कृत्रिम-उपायों द्वारा सन्तति-नियमन करवाता है और जरूरत पड़ती है तो नारी से बच्चा पैदा करने की मशीन का काम लेता है—प्रत्येक बच्चे पर इनाम देता है। वहाँ के पुरुषवर्ग की नारी के साथ खुलकर-खेलने की प्रवृत्ति ने नारी को उसी ढंग की शिक्षा और स्वतन्त्रता दी है कि जिससे नारी का प्रत्येक पहलू से उपयोग किया जा सके और अपने स्वार्थ अक्षुण्ण बने रहें। आज पूरी—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थाएँ पुरुषवर्ग के ही हाथ में हैं—और अपने स्वार्थों की सुरक्षा और वृद्धि के लिये नारी का उपयोग अधिक से अधिक और प्रत्येक पहलू से किया जाता है।

सन् १९४५ का ताजा उदाहरण देखिये! २७ मई को इंग्लैण्ड के समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था कि अनुदारदल ने चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिये यह तय किया है कि

स्त्रियों के सुन्दर चेहरों और बोलने की कला से ही जीत हो सकेगी। क्योंकि आज तक जितने भी चुनाव हुए हैं, उनमें चुने हुए अधिकांश व्यक्तियों की सफलता का कारण उनकी योग्यता न होकर उनकी स्त्रियों का खूबसूरत होना है। इसलिये किसी सदस्य को उम्मीद-वार खड़ा करने से पहले उसकी स्त्री को बुलाकर देख लिया जाय कि वह सुन्दर है या नहीं और भाषण दिलवा कर भी देखा जाय कि क्या वह मधुर-भाषिणी है! क्योंकि चुनाव में विजय पाने के लिये इस बार स्त्रियों का ही प्रमुख हाथ रहेगा।

क्या वहाँ की नारियों को युद्ध-हत्याकाण्ड प्रिय है! क्या वे भ्रूण हत्याएँ खुशी से करती हैं? क्या उन्हें वेश्यालय और वेश्या बनना पसन्द है? क्या उन्हें सन्तान से नफ़रत है या अधिक बच्चे पैदा करने में रुचि है? युवकों को युवतियों के चुम्बन द्वारा आकर्षित कर उन्हें सेना में भरती करना और सैनिकों की 'जरूरत' के लिये युवतियों को भरती करना—क्या नारी का सदुपयोग है? कदापि नहीं; यह सब पुरुष-वर्ग की पसन्दगी के काम है। नारी को अपने अनुरूप शिक्षा देकर उसे कोशल-पूर्वक अपना हिस्सेदार बनाया है; और सब-कुछ पुरुषवर्ग हड़पे हुए है! वहाँ की सभ्यता ने नारी को कामुक और पुरुष-वत बनने की शिक्षा दी है; फलतः वहाँ की नारी पुरुषों से होड़ लेना चाहती है। कई गोरी-रमणियों ने हब्शियों और रेडइंडियनों से गुप्त-सम्बन्ध रखे हैं और प्रकट हो जाने पर उन बेचारों को मौत की सजा मिली है। इस होड़ ने ऐसे वेश्यालयों को भी

जन्म दिया है, जहाँ स्वस्थ हब्शी रखे जाते हैं। नारी-निर्यातन के समान आयेदिन पुरुष-निर्यातन होने का भी वहाँ एक नया जुर्म पैदा हो गया है। पाश्चात्य नारियाँ श्रृंगार और सुगन्ध से सुसज्जित हो, कई कृत्रिम साधनों से अपनी सुन्दरता को बढ़ाकर, पुरुषों को मोहित और आकर्षित करने की चेष्टा में लगी रहती है—मानो यही उनकी दिनचर्या हो!

किन्तु यह सब किसने सिखलाया, किसने बढ़ावा दिया, किसने वाहवाही कर इस दिशा की ओर बढ़ने के लिये नारी को प्रोत्साहन दिया? निस्संकोच कहा जा सकता है कि वहाँ के पुरुष-वर्ग ने नारी को ऐसे साँचे में ढाला है कि हर पहलू से उसका अधिक से अधिक उपयोग हो सके और उसके द्वारा पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सके। प्रत्येक देश की सभ्यता-संस्कृति भिन्न हो सकती है किन्तु वहाँ के पुरुष-वर्ग का उद्देश्य सर्वदा नारी को साधन बनाकर उसके द्वारा अपने स्वार्थ-सिद्ध करते रहना और अबाध रूप से उसको अपने कामुक-उपयोग में लेते रहना ही रहा है।

छ—अन्य देशों की नारी

अरब में बहु-विवाह और दासी-प्रथा प्रचलित थी। दासी और पत्नी से पुरुष किराये का व्यभिचार भी करा सकता था तथा पशुओं के समान उनकी खरीद-बिक्री भी कर सकता था। एक समय स्त्रियों के बारे में वहाँ पुरुष के विचार अत्यन्त निकृष्ट और अश्लील थे; 'औरत' यह अरबी शब्द है और इसका अर्थ है 'जननेन्द्री'।—अर्थात् स्त्रियाँ वहाँ अपने गुह्य-स्थान के

नाम से पुकारी जाती थीं।—आज भी अरब में इस प्रथा के अवशेष मौजूद हैं; और प्रत्येक सभ्य-समाज के निम्नस्तर में आज भी स्त्रियों के प्रति कई अश्लील शब्द व्यवहृत होते हैं। कई जंगली जातियों में अपनी स्त्री को मार कर खा जाने का अधिकार प्राप्त है। इसके उपरान्त स्त्रियों के खरीदे और बेचे जाने की बात करना व्यर्थ है!—किसी समय यह प्रथा अधिकांश सारे मानव-समाज में प्रचिलित थी और आज भी उसका अवशेष (संस्कृत-रूप) किसी न किसी रूप में वर्तमान है ही। चीन में स्त्रियों द्वारा अपने पति पर कोई अभियोग लगाना अक्षम्य दोष था और पिता की आज्ञा का भंग करना हत्या के समान पातक था। अगाथीर्सस (सीथियन) में रिवाज था कि प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री से प्रसंग कर सकता है और वे इस प्रकार एक दूसरे के भाई बनते थे। आयर्लैण्ड की केल्टिक जाति के बारे में "श्री स्ट्रैबो" ने लिखा है कि वे सभी स्त्रियों से—अपनी मा-बहिनों से भी संसर्ग रखते थे; इसमें कोई लज्जा की बात नहीं थी। "श्री व्हेरो" के कथनानुसार ग्रीस निवासियों की भी यही दशा थी। चीन में भी "फूबी" के राजत्व-काल तक समस्त पुरुषों का समस्त स्त्रियों पर समान अधिकार था। फेलिक्स-अरेबिया के लोग अपनी मा से भी सम्बन्ध रखते थे। "श्री मेजर रौसासिंग" का कहना है कि कोरम्बा जाति में स्त्री-पुरुषों का अभेद-सम्बन्ध अब तक प्रचलित है। बेबिलोन में यह रिवाज था कि प्रत्येक स्त्री को एक बार व्हीनस के मन्दिर में बैठना और किसी अपरिचित के साथ सहवास करना पड़ता था।—जब तक

कोई अपरिचित-व्यक्ति उसकी गोद में चाँदी का एक टुकड़ा न डाल दे और मंदिर के बाहर उससे सम्भोग न कर ले, तब तक वह स्त्री घर नहीं आ सकती थी। अपरिचित आशिर्वाद देता था कि व्हेनस उस पर कृपा करेगी, और वह चाँदी का टुकड़ा कितना ही छोटा हो—बड़ा पवित्र माना जाता था। अरमीनियन जाति अपनी कुमारी लड़कियों को अनेइटिस-देवी को समर्पण कर आती थी और मन्दिरों में बहुत दिनों तक वेश्याओं के समान जीवन बिताने पर भी उन्हें पति प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती थी। रोम में भी धन-शून्य लड़की अवज्ञा की दृष्टि से देखी जाती थी; इसलिये युवतियाँ विवाह के पूर्व वेश्या-वृत्ति के द्वारा कुछ रुपया जमा कर लेती थीं और इस कार्य से उसके विवाह में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। "श्री हर्न" ने लिखा है कि चीयेवे जाति के लोग अपनी बहिनों और बेटियों के साथ अक्सर सम्बन्ध रखते हैं। "श्री लेम्स् फोर्ड" ने केमेग्टम जाति के बारे में भी यही बात लिखी है। "श्री जस्टिन टर्टूलियन" ने लिखा है कि प्राचीन फारस में वहाँ का मजहब मा-बेटे के सम्बन्ध की भी अनुमति देता था। अपने मेहमानों की सेवा में कई जातियाँ अपनी पत्नियों-पुत्रियों को उपस्थित करती हैं।—किचनूक जाति के लोग यदि कोई मेहमान उनकी यह सेवा अस्वीकार कर दे तो उसे भारी अपमान समझते हैं इस जाति में और रेडइण्डियनों में अविवाहिता का अनेक पुरुषों के साथ सम्बन्ध रहता है—यहाँ तक कि आत्मीय-लोगों की अनुमति से स्त्रियाँ पर-पुरुष के पास जाती हैं। चुपची जाति

के लोग भ्रमण-कारियों के सामने भी अपनी स्त्रियों को उपस्थित करते हैं और अस्वीकार करने पर अक्षम्य अपमान समझते हैं। सीयुक्स, कमैक्सडेल, अलीटस व उत्तरी-एशिया और दक्षिणी-अमेरिका की अनेक जातियों के बारे में भी यही कहा गया है— कोई भी पुरुष उनकी किसी भी स्त्री से संसर्ग कर सकता है। एक्सिमों जाति के दो मित्र अक्सर दो-चार रात्रि के लिये स्त्रियों का अदल-बदल कर लिया करते हैं और यह मित्रता की पराकाष्ठा समझी जाती है। कैलमैक, कारगीज़ और चिपैवन जातियों के बारे में लिखा गया है कि वे अपनी स्त्रियों को मित्रों की सेवा में भेजा करते हैं तथा एक मित्र दूसरे मित्र को अपनी स्त्री के साथ हार्दिकता बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करता है। प्राचीन नाइकेरगुआ में एक वार्षिक त्यौहार के दिन स्त्री-पुरुष जिससे चाहे उससे संसर्ग कर लेते थे। रेडकारेन, मौगोलकारेन और डोडा लोग स्त्री-पुरुष के भेदभाव-रहित समागम को अपनी पुरानी-रीति बतलाते हैं।—"श्री हैरिस" ने लिखा है कि किसी स्त्री को भगा ले जाने पर उनका कानून अधिक से अधिक पाँच आने जुर्माना करता है। अपरकांगो में बसने वाली जाति के बारे में लिखा है कि विवाह के पूर्व दो गज कपड़े के लिये पिता या भाई लड़की को हवाले कर देता है और इससे उसके विवाह में कोई अड़चन पैदा नहीं होती। पील्यूद्वीप, टहीटी, मैकरोनेशिया और केण्ड्रोनद्वीप की जातियों का भी यही हाल है। टेहीटियनों के बारे में "श्री कुक़" ने लिखा है कि जिस प्रकार हम बहुत से लोगों के मध्य बैठ कर भोजन करते हैं, उसी प्रकार

ये लोग खुले मैदान में सब की दृष्टि के सामने अपनी कामाग्नि शान्त किया करते हैं। वोहिया जाति के मध्य किसी कुमारी के पीछे युवकों का दल नहीं चलता तो यह उसके लिये बड़े अपमान की बात मानी जाती है—कुमारीअवस्था में ही माता बन जाना उनके यहाँ सौभाग्य की बात है; इससे उसके पिता को अधिक धन मिलता है और वह पति भी धनाढ्य प्राप्त करती है। मध्य अमेरिका की चिपची जाति में विवाह के पश्चात् किसी पुरुष को यह मालूम हो जाय कि उसकी स्त्री से किसी पुरुष ने समागम नहीं किया तो वह अपने भाग्य को कोसने लगता है और एक भी पुरुष का चित्ताकर्षण न कर सकने के कारण अपनी स्त्री को तुच्छ समझता है। जापानियों के बारे में "श्री डिक्सन" ने लिखा है कि पुत्रियाँ अपने पिता की आर्थिक-अवस्था सुधारने के लिये अपने शरीर को बेचा करती हैं; इस प्रकार जब वे अपने पिता को सहायता पहुँचाकर घर लौटती हैं तो पितृ-प्रेम के कारण उनका सम्मान बढ़ जाता है। रूस में जार के राजत्व-काल तक कुमारी लड़कियाँ अपने जमीदार के आधीन रहती थीं। वेचुआना जाति के बारे में लिखा गया है कि वे एक पुरुष की एक स्त्री की प्रथा समझने में असमर्थ रहे हैं—कल्पना करना तो दूर रहा। अरब की कुछ जातियों ने भी इस प्रथा को असम्भव समझा। मकोलोलो जाति की स्त्रियों ने जब यह सुना कि यूरोप में एक पुरुष को एक ही स्त्री रहती है—तो वे स्तम्भित रह गईं!

इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि पुरुष वर्ग द्वारा नारी का कामुक उपयोग ही विशेष-रूप से किया गया है।

स्पष्ट है कि पुरुषवर्ग की दृष्टि में नारी का खास-उपयोग उसके सहवास से—यही सुख-आनन्द प्राप्त करना है; इसी सुख को विशेष महत्व दिया गया है। यदि उपरोक्त जातियों में सभ्य समाजों को सम्मिलित कर लिया जाय, तो भी पुरुषवर्ग के प्रभुत्व पर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि विशेषतया यौवन, सौन्दर्य और जनन-क्षमता अर्थात् नारी के शरीर की उपयोगिता द्वारा ही उस की योग्यता और कीमत आँकी जाती है। जिस प्रकार शोषकवर्ग ने शोषितों को विवश बनाकर, उन पर अपने ऐश्वर्य-मान का महल निर्माण कर रखा है; उसी प्रकार पुरुषवर्ग ने भी नारी-जाति को उपयोगी वस्तु बनाकर, उसके नारित्व पर अपने प्रभुत्व, ऐशोइशरत और ऐश्वर्य का महल बना रखा है। अस्तु नारी पर पुरुषवर्ग के एकाधिकार से ही व्यभिचार की उत्पत्ति हुई है, विवाह-संस्था पुरुष के एकाधिकार की प्रतीक है और पुरुषवर्ग है व्यभिचार का पोषक।

ज—बुनियादी रोग

विवाह संस्था आज इतनी प्राचीन हो चुकी है कि इसके खिलाफ़ सोचा भी नहीं जा सकता कि नर-नारी आपस में बिना विवाह किये भी रह सकते हैं! किन्तु यह निर्विवाद है कि मानवसमाज (नर-नारी) को अधिकाधिक सुखी बनाने के लिये आज तक जितने भी नियम गढ़े गये हैं, वे हैं सब इक तर्फा—एक सबल वर्ग के लिये ही लाभप्रद।—प्रत्येक व्यक्ति पर मद्देनज़र रखते हुए वे नियम नहीं बनाये गये हैं; इसीलिये आज समाज में इतना वैषम्य और

पक्षपात देखने में आता है। विवाह-संस्था का इतिहास भीषण रहा है, इस मूल की खराबी के कारण ही मानव-व्यवस्था छिन्न-भिन्न एवं दूषित हो गई है और मनुष्य गलत तरीके से विचार करने लग गया है। विवाह-संस्था द्वारा मानव की स्वाभाविक-गति और प्रकृति की भी अवहेलना की गई है। विवाह-संस्था व्यक्ति को एक छोटे दायरे (परिवार) में बाँधती है। व्यक्ति उस छोटे दायरे में वर्तमान और भावी सुख के लिये संग्रह करता है। वंशक्रम के साथ धीरे-धीरे सामाजिक-सम्पत्ति का कुछ ही स्थानों में संग्रह हो जाता है। इस संग्रह पर विना परिश्रम के ही कुछ व्यक्ति का अधिकार जारी रहता है और समाज का एक बड़ा भाग सम्पत्ति से वंचित हो जाता है—एक बड़े भाग को मुट्ठी भर अन्न के लिये जीवन भर गुलामी और परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार आज की आर्थिक-विषमता, औद्योगिक-प्रतिद्वन्दता, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और भीषण-विश्वयुद्ध का कारण मानवसमाज की मूल-खराबी—व्यक्ति का उन्मुक्त न रहना मानी विवाह संस्था ही है।

वे धार्मिक और सामाजिक नीति-नियम और वे कठोरताएँ जिनका हम युगों से प्रयोग करते आ रहे हैं; क्या उनके द्वारा व्यभिचार-दुराचार रोका जा सका है? विल्कुल नहीं, वल्कि इसके विपरीत वृद्धि ही हुई है। आज खुले-आम व्यभिचार का बाजार गर्म है। समाज के मस्तक पर खुलकर व्यभिचार का ताण्डव हो रहा है, और वह दिन दूर नहीं कि हमारे देश की नारियाँ भी नारित्व से गिर जायँ और पाश्चात्य-नारियों की तरह पुरुषों के

खिलाफ़ द्वन्द छेड़ दें! यह एक प्राकृतिक-नियम है कि जितने अधिक बाँध बाँधे जाते हैं, उतनी ही अधिक गन्दगी बढ़ती है! एक दिन प्रवाह के वेग से बाँध विध्वंस हो जाता है और स्वच्छन्द-प्रवाह बहने लगता है!

यदि किसी पेड़ के पौधे को गमले में लगा, ऊपर से ढँक-कर उसकी स्वच्छन्दता का अपहरण कर लिया जाय—या किसी जानवर को पकड़ पिंजड़े में बन्द कर सरकस में भरती कर लिया जाय तो वह दूसरी ही प्रकार से जिन्दा रहने का प्रयत्न अवश्य करेगा—किन्तु उसकी मूल प्रकृति (गुण-धर्म) नष्ट हो जायगी, वह निरी एक शोभा बढ़ाने वाली वस्तु-मात्र रह जायगा;—वह ह्रासात्मक-परिवर्तन की ओर अग्रसर होगा। उसकी असलियत का विकास तो तभी देखा जा सकता है, जब कि उसे स्वच्छन्द-वातावरण में पनपने का मौका दिया जाय; उसे कुदरती स्थान पर स्थापित किया जाय; उसकी कुदरती जरूरतें पूरी की जायँ।—इसी प्रकार नारी (मनुष्य) के गुण-धर्म का वास्तविक विकास भी तभी देखा जा सकता है, जब उसे उन्मुक्त कर दिया जाय; उसे स्वच्छन्द-वातावरण में पनपने का मौका दिया जाय; उसे उसके वास्तविक स्थान पर स्थापित किया जाय और उसकी कुदरती जरूरतें पूरी की जायँ।

तब मानव-समाज की इकाई परिवार, जाति या राष्ट्र न होकर व्यक्ति रहेगी। वंशक्रम से सम्पत्ति पर कुछ व्यक्ति का अधिकार नहीं रहेगा—सम्पत्ति का एकत्रिकरण नहीं हो पायगा। यह नहीं होगा कि कुछ को तो जन्म के साथ ही लाखों की

सम्पत्ति मिल जाय और अधिकांश को कठिन परिश्रम के बाद भी दाने न मिलें; उनके बच्चे तड़फते रहें। तब नारी पैसे या पति की गुलाम और मोहताज़ नहीं रहेगी. जो अन्न-वस्त्र या आश्रय के लिये अपना शरीर पुरुष के हवाले कर देगी। तब पुरुष नारी का एक ईमानदार मित्र (सहयोगी) रहेगा।—यदि कोई बेईमानी करेगा तो उसे पश्चात्ताप कर पुनः समझोता करना होगा, वर्ना उस बेईमान से सारा समाज परिचित हो जायगा और एक दिन प्रायश्चित करके फिर वह बेईमानी करने की गुस्ताख़ी नहीं करेगा। नारी निस्वार्थता, सहनशीलता, प्रेम और त्याग की मूर्ति है—ऐसे मामलों में वह उस बेईमान को क्षमाकर—अपनाकर समाज के समक्ष एक आदर्श उपस्थित करेगी, जिससे समाज में बेईमानी के प्रति आत्मग्लानि पैदा होगी। सन्तान का भार नारी पर ही है और वही वहन करेगी भी,—किन्तु उसे कितनी सन्तान चाहिये यह उसकी इच्छा पर निर्भर रहेगा, तब वह हर बारह महीनें में बारह सन्तानें प्रसव करने की भूल नहीं करेगी। माता अपनी सन्तान के लिये प्राण भी त्याग सकती है —वह नई-व्यवस्था का निर्माण करेगी; जिसमें प्रत्येक बच्चों को जविन-विकास के लिये समान सुविधा और अवसर मिलेगा!—वह उसे योग्य बनाने के लिये तहेदिल से मेहनत करेगी, वह अपनी सन्तान को ऐसी तालीम नहीं देगी कि जिसे पाकर उसकी ही सन्तान उसे और उसकी जाति को अपमानित करे! नारी-हृदय में स्थित मानव-धर्म की कलियाँ विकास पाकर सारे मानवसमाज को मानव-धर्म की सौरभ से भर देगी; मानव समाज मानव-धर्म की सौरभ से महक उठेगा!

६

स्वच्छंदवाद

यदि हम एक परिवार जैसी अपने समाज की व्यवस्था के इच्छुक हैं; जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समानरूप से सुखी और सन्तुष्ट रहे—तो यह भी जरूरी है कि परिवार के समान ही सामाजिक-व्यवस्था की जिम्मेदारी भी स्त्रियों के सुपुर्द की जाय।

क—धाराएँ

स्वच्छन्द जीवन को कुछ ही गहराई से देखने पर सरलता से जाना जा सकता है कि उसमें स्वावलम्बन, श्रम, समानता और स्वधर्मपरायणता स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। यदि व्यक्ति स्वच्छन्द है, उन्मुक्त है; मानी न किसी का दास है न किसी का स्वामी, तो उसे स्वावलम्बन ग्रहण करना ही पड़ेगा; और उस स्वावलम्बी व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिये श्रम भी करना ही पड़ेगा। उपरान्त उस समाज में समानता और स्वधर्म-

परायणता का होना भी उतना ही स्वाभाविक है, जितना किसी वृक्ष में फूल और फल का लगना। इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्र-बिन्दु स्वच्छन्दता से स्वावलम्बन, श्रम, समानता और स्वधर्म-परायणता की विस्तार रेखाएँ प्रकाश रेखाओं के समान स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती हैं।

पक्षियों के स्वच्छन्द-सुखी जोड़े देखकर, किस युवक-युवती को अपने जीवन के प्रति असन्तोष पैदा नहीं होता ! —प्रत्येक अक्सर अपने जीवन में कई बार निराशा से कहते हैं--काश हम भी पक्षी होते तो—!

उन्हें स्वावलम्बी देखकर—दिनभर की मेहनत के बाद सुख की नींद सोते देखकर, किस श्रमिक का मन वेदना से नहीं भर जाता ? कई बार निराशा से कहते सुना जाता है—हमसे तो पशु-पक्षियों का जीवन अच्छा है, "ऊधौ का लेना न माधौ का देना" कोई किसी का गुलाम नहीं; अपनी मेहनत का खाना और सुख की नींद सोना !

पशु-पक्षियों में समानता देखकर किस समाज या देश के सेवक को लोभ उत्पन्न नहीं होगा ? --कोई हरामखोर नहीं, सब समानरूप से श्रम करते हैं और उसका पूरा फल भोगते हैं। और कईयों में देखा जाता है कि सब मिलकर श्रम के फल को संग्रह करते हैं, फिर सब मिलकर चैन से उस फल का उपभोग करते हैं !

उनकी स्वधर्मपरायणता से क्या कोई हमारे धर्मध्वजी मुकाबला कर सकेंगे ? भोलानाथ, गंगामाता या कुरान, बाइबुल

की कसम खाकर क्या वे कह सकेंगे कि हमने मानवधर्म के खिलाफ़ कोई आचरण नहीं किया है?

यदि मानव सचमुच ही यह सब-कुछ चाहता है; तो उसकी प्राप्ति के लिये साधन है केवल प्रकृति के नियमों का अनुगमन करना—केवल स्वच्छन्दवाद! एक मात्र स्वच्छन्दवाद की साधना ही ऐसी है, जिसके द्वारा मनुष्य सबकुछ प्राप्त कर सकता है। शक्ति और शासन द्वारा मानव को सीमा में बाँधकर स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन, श्रम, समानता और स्वधर्म की शिक्षा देने का कार्य सदैव असफल रहा है। क्योंकि प्रकृति-विरोधी कार्य कभी सफल नहीं हो सकते। आज की व्यवस्था में प्रकृति का विरोध है और उसकी अवास्तविकता आज प्रत्यक्ष भी है। शक्ति और शासन के नियन्त्रण से सरकस के मालिक और रिंगमास्टर का लाभ हो सकता है—उनका रुतबा बढ़ सकता है; चाबुक की फटकार से नाचने वाले जानवरों का नहीं। जानवरों का वास्तविक लाभ तो तभी हो सकता है जब वे उन्मुक्त होकर स्वच्छन्द वातावरण में अपने यथोचित स्थान पर पहुँच जायँ।

ख—पहला कदम

तब, अब हम स्वच्छन्दवाद का प्रारम्भ या उसमें प्रवेश किस प्रकार करें? इसके लिये प्रकृति के नियमानुसार मानव-समाज के मूल केन्द्र—नारी को स्वच्छन्द करना होगा, उसको उसके योग्य स्थान पर स्थापित करना होगा और उसकी स्वाभाविक आवश्यकता और गति की पूर्ति भी करना होगी। तभी मानवसमाज और मानवधर्म का वास्तविक विकास की ओर अग्रसर होना

समय से ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना शुरू कर दिया जाता है—तथा वे ही पौधे बड़े होने पर गुण-धर्म, आकार-प्रकार में सबसे बढ़कर होते हैं।

ग—नरनारी

इन बातों से पुरुषवर्ग के स्वामित्व की अनेक पुरातन-विचार-धाराएँ काँप उठती हैं और उनके मन में अनेक प्रश्न और आशंकाएँ उठने लगती हैं--किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि वे स्वयं जिन शासकों के शासन और पूँजीपतियों के प्रभुत्व के खिलाफ़ द्वन्द छेड़ चुके हैं—वे भी पुरातन विचार-धाराएँ ही हैं। उनके प्रश्नों में एक मुख्य प्रश्न यह है कि यदि विवाह-संस्था का अन्त हो जायगा तो नर-नारी का सम्बन्ध किस प्रकार का होगा, नारी तो उनके बन्धन से निकल भागेगी।

जो भी यह सब उन स्वतन्त्रता के पथ के पथिकों पर ही निर्भर है। ज्यों-ज्यों उनका मस्तिष्क स्वच्छन्द होता जायगा और वास्तविक वैज्ञानिक-खुराक ग्रहण करते हुए स्वावलम्बी बनता जायगा; त्यों त्यों मानवसमाज की व्यवस्था के प्रत्येक सम्बन्ध असलियत और सच्चाई के नज़दीक पहुँचते हुए विकासात्मक-परिवर्तन द्वारा सफलता के साथ उत्तरोत्तर संस्कृत-रूप पाते जायँगे। हमें तो केवल समाज के मूल को आवश्यक सुविधा देते हुए उसे स्वच्छन्द वातावरण में, योग्य स्थान पर, उसकी कुदरती जरूरतों को पूरी करते हुए स्थापित कर देना है; तथा पूर्ण स्वावलम्बी बनने तक उसका संरक्षण करते रहना है। तो भी हम विषय की सरलता के लिए प्रकृति के आधार से नर-नारी के प्रारम्भिक सम्बन्ध पर विचार कर लेते हैं।

जब हमने अपने जीवन और व्यवस्था के कई पहलुओं में प्रकृति से दुश्मनी कर ली है तो क्या इस दिशा में हमारी प्रकृति से मित्रता रह सकती है? कदापि नहीं, हमारा यह सम्बन्ध भी कृत्रिमता से भरा हुआ—बिगड़ा हुआ रूप है। हम देखते हैं कि अन्य प्राणियों का जीवन स्वच्छन्द होने से उनका यौन-सम्बन्ध कितना नियमित है?—फिर भी जिस प्रकार आहार, निद्रा, शौच्य आदि कार्य प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत व्यवहृत होते हैं, उन नियमों की खोज कर वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की गई है; तथा उन नियमों को तोड़ने पर दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। उसी प्रकार, वही दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में भी रखना न्यायपूर्ण होगा और हमें इस दिशा में भी वैज्ञानिक-अनुसन्धानों—प्राकृतिक नियमों का आश्रय लेना होगा।

प्रकृति क्षण-क्षण परिवर्तनशील है और नवीन रूप धारण करती रहती है। मानव प्रकृति भी ऐसी ही है—वह भी परिवर्तन और नवीनता चाहती है; इस प्रवाह को रोकना भी निस्सन्देह प्रकृति का विरोध करना है। यदि मनुष्य अपने प्रथम प्रयोग में ही प्रकृति के नियमानुसार परिवर्तन और नवीनता प्राप्त करते हुए उत्तरोत्तर सफल होता जाता है, तब तो किसी को कुछ शिकायत नहीं रहती। लेकिन जब पहले प्रयोग में असफल होजाने पर मनुष्य दूसरा प्रयोग प्रारम्भ करता है—अर्थात् नर-नारी का सम्बन्ध टूट जाता है, तो उसका चिन्ह या प्रभाव पुरुष के शरीर पर नहीं पड़ता—मगर नारी को गर्भ धारण करना पड़ता है। नारी एक नयी जिम्मेदारी में फँस जाती है; सन्तान उत्पन्न होजाने के बाद उसके लालन-

पालन का प्रश्न उपस्थित होता है और धीरे-धीरे नारी पर भार और जिम्मेदारियाँ बढ़ने लगती हैं। इसी समस्या का हल आज विवाह के रूप में हमारे सामने मौजूद है। इस हल द्वारा नारी और उसके बच्चे पुरुष के जिम्मे अवश्य कर दिये गये हैं; उनका आर्थिक भार पुरुष ही वहन करता है—मगर देखा जाय तो नारी का सब-कुछ रिश्वत के रूप में पुरुष को दे दिया गया हैं। आज स्त्री पुरुष की है, बच्चे पुरुष के हैं, सम्पत्ति पुरुष की है और इन सब पर शासन भी पुरुष का है। जो स्त्री और बच्चे पुरुष के सिर पर लाद दिये गये हैं—जो उसे पसन्द नहीं हैं; उसकी पूर्ति के लिये उसे अधिकार है कि वह प्रयोग के लिये दूसरा साथी पुनः खोज ले और असफल होते रहने पर पुनः पुनः नवीन खोज और प्रयोग करता रहे। इस प्रकार नारी की स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता) पूरी तरह से छीन ली गई है; नारी को स्वावलम्बी बनाने के बजाय निरावलम्बी बनाकर उसे पुरुष की मोहताज बना दी गई है और पुरुष को सर्वाधिकारी बनाकर उसकी उच्छृंखलता को बढ़ावा दिया गया है।

स्वच्छन्दवाद की मन्शा किसी को दबाने की नहीं, वह स्त्री पुरुष दोनों को प्रयोग के लिये समान अधिकार और अवसर प्रदान करना चाहता है।—लेकिन आज आर्थिक विषमता और पूँजीवाद के कारण नारी सरलता से स्वावलम्बी नहीं बन सकती। स्त्री के बच्चे तो दूर रहे, उसका खुद का उदर-पोषण भी आज जटिल है। अन्य प्राणियों के समान हमारे उत्पादन-क्षेत्र सामाजिक नहीं हैं कि ऐसी अवस्था में नारी और उसकी सन्तान अपनी

जरूरतें आप पूरी कर सकें। आज सारे उत्पादन-क्षेत्रों पर पुरुषों का एकाधिकार है।—इसलिये इस जमाने में सम्पत्ति वैयक्तिक हो चाहे सामाजिक, स्त्री या उसकी सन्तान—हरएक का उतना ही हक है, जितना कि एक पुरुष का! अस्तु, आज स्त्रियों का यह नारा है कि सन्तान और सम्पत्ति पर नारी का हक है!

मौजूदा हालत में भी सम्पत्ति पर नारी का अधिकार होने से पुरुष का कोई वास्तविक हक नहीं मारा जाता; दोनों की ही स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। पुरुष श्रम द्वारा जब नारी और बच्चों का आर्थिक भार उठा सकता है तो क्या अपना अकेले का भार नहीं उठा सकता? जरूर उठा सकता है! यदि हम सचमुच ही न्याय के लिये उत्सुक हैं, नारी को स्वतन्त्र करना चाहते हैं; तो नारी को वारिस बना देने में हमें कोई उज्र नहीं होना चाहिये। हाँ, पूँजीपति अवश्य भयभीत हो उठेंगे; क्योंकि उनकी सम्पत्ति स्त्री के हाथ में जाती है और स्त्री जो बेवकूफ (!) ठहरी—क्योंकि उसमें कठोरता और निर्दयता नहीं होती!--यदि वह अपनी सहानुभूति बाँट दे तो?

घ—आर्थिक आन्दोलन

यह है केवल तत्कालीन आन्दोलन; इसके सिवाय हमें निरन्तर श्रम करना पड़ेगा—क्योंकि आज सारे श्रम-क्षेत्र पूँजीपतियों के हाथ में हैं। श्रम तो हम हमेशा से करते ही आये हैं—और वह भी शक्ति से अधिक; मगर हमारे श्रम का पूरा फल नहीं पा सकते?

परिस्थितियों का हल करते हुए ही मनुष्य आगे बढ़ता है।

अगर आज हम चारों ओर से गुलामी में बँधे हुए होने की परि-स्थिति में नहीं होते, तो इस प्रकार के विचार करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। कदम उठाते ही हमें विरोधियों का सामना करना पड़ेगा; प्रत्येक मालिकवर्ग हमारा विरोध करेगा। मालिकवर्ग से सहानुभूति की आशा रखना व्यर्थ है; वह तो अपने नाजायज अधिकारों को छोड़ कर ही हमारा साथी और शुभचिन्तक साबित हो सकता है। हम बड़े पौधों के नीचे दबे हुए छोटे-अविकासित पौधों को वहाँ से हटा कर अलग व्यवस्थित रूप से रोपेंगे—हम हमारे समाज को अलग से "स्वच्छन्द" वातावरण में स्थापित कर स्वावलम्बी बनायेंगे! क्या हम इतने निकम्मे हैं कि चन्द पूँजी-पतियों की गुलामी किये बगैर अपनी जिन्दगी खुद बसर नहीं कर सकते? हाँ, यह अवश्य है कि जमीन में अच्छी तरह से जड़ जमने में पूर्ण-स्वावलम्बी बनने में विलम्ब अवश्य लगेगा।

हम ग्रीष्म, वर्षा और शीत में हड्डी-तोड़ मेहनत करने वाले किसान हैं! हम प्रतिदिन सुबह से शाम तक अविराम-गति से लोहे और मशीनों से जूझ कर खून-पसीना बहाने वाले मजदूर हैं! और हम सारे कारखाने तथा शासनतन्त्र के व्यवस्थापक भी हैं! हम सब एक-दूसरे के सहयोग से पूँजीपतियों की दुनिया और उनके उत्पादनों का बहिष्कार करके; अपने श्रम, उत्पादन और विनिमय द्वारा अलग दुनिया बसायेंगे!

एक उदाहरण में यह कहा गया है कि मानव अनायास ही समुद्र में कूद पड़ा है और मालिकवर्ग दूसरों के सहारे समुद्र में सैर कर रहा है। उसमें आज यह हो गया है कि कुछ यन्त्र-रूपी

लट्ठे उनके हाथ लग गये हैं; जिन पर मालिक लोग बैठे सानन्द, वेमकसद सैर कर रहे हैं। वाकी लोग लट्ठों को थामे तथा एक दूसरे का कन्धा पकड़े, सहारा लिये हुए, हाथ-पैर हिला कर तैरते हुए उन लट्ठों को ढकेल रहे हैं।

अब हमें मालिकों को उनके लट्ठों पर ही बैठे छोड़, अलग ही कुछ लट्ठों के सहारे किनारे की ओर बढ़ चलना है। इसके लिये यह जरूरी है कि बड़े लट्ठों का कई और छोटे लट्ठों का कुछ लोग दल बाँध कर सहारा ले लें और पूरे परिश्रम से हाथ-पैर चलायें। इस प्रकार हम सब सहयोग द्वारा सामुहिक रूप से मुक्त होकर और स्वावलम्बी बन कर आसानी से किनारे पर पहुँच सकेंगे—अर्थात् हम मशीनों का बहिष्कार न करते हुए जो कुछ भी अधिक से अधिक सहारा ले सकते हैं, उतना उससे सामुहिक रूप से लेकर सहयोग और सहकारिता के साथ अपनी मंजिल तय करेंगे। किनारे; जमीन पर पहुँच जाने पर तो हमें सब वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी तब सफ़र पैदल, सायकल या बसेस से की जाय अथवा बैल गाड़ी से—यह तब की बात है! आज हमें केवल दो बातों पर जम जाना है–पूँजीपतियों के उत्पादन का बहिष्कार और हमारे उत्पादन की वृद्धि।–इसके बाद समानता अपने आप चली आयगी। कोई भी सद्‌गुण; उच्च उद्देश्यों के कारण या शासन-शक्ति द्वारा लादने से मनुष्य में पैदा नहीं होते—ठीक वातावरण में वे स्वयं ही स्वाभाविक-रूप से पनप जाते हैं। मानवसमाज पर शासन द्वारा बलपूर्वक अच्छे भी सिद्धान्त न आज तक सफल हुए हैं और न सफल होने की सम्भावना ही है।

बुनियाद में ही खराबी होने के कारण वे अपने आप गल कर गिर पड़ते हैं। अगर बुनियाद ही कमजोर है तो ऊपर की मंजिलों में दरार पड़ना या उनका लुढ़क पड़ना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार स्वधर्म-परायणता (नैतिकता) सीखने के लिये भी धर्मालयों या न्यायालयों में जाने की आवश्यकता नहीं है; यह तो हमारी अपनी ही वसीहत है—अपनी ही चीज है। यदि मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं तो फिर किस में होगा? यदि हम मानव समाज के मूल को ही यथोचित स्थान में रोपकर उसकी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देंगे, तो मानव-समाज मानव-धर्म से लहलहा उठेगा ही और उसमें मानवता के फूल खिलेंगे ही। धर्म की व्याख्या तो मालिकवर्ग द्वारा की गयी है और उन्हें भी इसलिये करना पड़ी कि जब उनके द्वारा अपने गुलामों से अधिकाधिक सुख-सुविधा और लाभ पाने का प्रयत्न किया जाने लगा—गुलामों का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा; और इससे वे गुलाम लोग आना-कानी करने लगे—जब वे अपने अभाव की हर तरह से पूर्ति करने लगे।

च—बौद्धिक-स्वच्छन्दता

लेकिन यह सब केवल सभा, समितियों, वक्तव्यों से ही नहीं होगा; लक्षस्थान तक पहुँचने के लिये हमें सतत-परिश्रम करने और निश्चित कार्यक्रम पर चलने की आवश्यकता है। हमें नया साहित्य निर्माण करना होगा और शिक्षा में आमूल परिवर्तन करना होगा। साहित्य में कल्पनाओं को छोड़कर वास्तविकता को स्थान देना होगा। जिस प्रकार रामायण, गीता, आल्हा-ऊदल

तोता-मैना आदि का घर-घर में प्रचार हो गया है; उसी प्रकार प्रमुख विषयों का वैज्ञानिक और रोचक ढंग से निर्माण और प्रचार करना होगा। राजा-रानी और रोमांस के किस्सों की जगह मानव-समाज के इतिहास और आविष्कारों की सरल कहानियों का प्रचार करना होगा। धार्मिक और सांस्कृतिक वार्ताओं को प्रयोगात्मक (वैज्ञानिक) ढंग से पेश करना होगा।—जैसे ईश्वर-देवता, स्वर्ग-नर्क आदि को ईमानदारी के साथ केवल-कल्पना स्वीकार करना होगा और शेषशायी-विष्णु, दसअवतार जैसे वृत्तान्तोंको विकास-वाद के सदृश्य रूप देकर उनका वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण करना होगा। केवल धर्म-संस्कृति डूब जाने का हल्ला मचाते रहने से काम नहीं चलेगा। इमानदारी के साथ दुनिया के हर पहलू का सच्चा परिचय देना होगा और जीवनस्तर के बजाय बौद्धिकस्तर उच्च करने का जबरदस्त आन्दोलन करना होगा। तभी मानव सच्चे मानी में स्वतन्त्र हो सकेगा और तभी धर्म-संस्कृति की भी वास्तविक रक्षा हो सकेगी।

बालकों की शिक्षा के बारे में भी यही दृष्टिकोण रखना होगा कि उनकी शिक्षा में किसी प्रकार के दबाव का समावेश न होने पाय। वनस्पतियों, प्राणियों, आविष्कारों आदि के संग्रहालयों द्वारा और कला, इतिहास, भूगोल आदि के चित्रों-प्रतिमाओं द्वारा बालकों की जिज्ञासा जागृत करते हुए—जिनको जो कुछ जिज्ञासा उत्पन्न हो उसकी पूर्ति सुबोध और रोचक ढंग से करना होगी।

छ—रचनात्मक-कार्य

यह सब लेकर "केन्द्र से विस्तार" के नियमानुसार देश के

केन्द्र (गाँवों) को संभालना होगा, उसी मूल को प्राकृतिक—खुराक और सुविधा देने से हमारा देश-रूपी वृक्ष लहलहा उठेगा और फूलेगा फलेगा। आज का युग आर्थिकद्वन्द्व का युग है, सारे संसार में आर्थिकद्वन्द्व मचा हुआ है; फलतः प्रत्येक गाँवों का समानता के आधार पर आर्थिक संगठन जरूरी है। प्रत्येक गाँव की अपनी पेढ़ी (बैंक) होगी; जिसमें बालिग-नाबालिग सभी का समान हिस्सा रहेगा—अर्थात् पेढ़ी गाँव की सामुहिक सम्पत्ति के रूप में होगी। इस पेढ़ी द्वारा कृषि और अन्य उद्योग किये जायँगे, और गाँव का सारा कच्चा माल काम में लाने के लिये उचित प्रमाण में मशीनों का उपयोग किया जायगा। प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आपस में वस्तुओं के विनिमय द्वारा करेगा और शहरों में माल भेजकर व्यापार भी करेगा। इस ढंग का एक पथ निश्चित करके चलने से ही हम उत्तरोत्तर उन्नति, सफलता और आजादी प्राप्त करते हुए लक्ष्यस्थान "स्वच्छन्दवाद" की ओर अग्रसर हो सकेंगे!

इस प्रकार चालीस-करोड़ आबादी वाले भारत के सातलाख गाँवों में अगर हम पाँच-पाँचसौ मनुष्यों के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था भी कर सकें तो स्वराज्य जैसी वस्तु तो पहली ही मंजिल में रास्ते में पड़ी हुई मिल जायगी। यदि योग्य अर्थशास्त्रियों द्वारा इस तरह की योजना बनायी जाय तो प्रत्येक गाँव के दोसौ घरों में एक हजार व्यक्ति रह कर श्रम द्वारा अपने बौद्धिक-स्तर और जीवन-स्तर को आसानी से उच्च कर सकते हैं।—अगर इसके लिये देश के प्रभावशाली नेतागण देश से अपील करें कि प्रत्येक गाँव की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने के लिये चार-पाँच लाख व्यक्ति

और इतनी पूँजी चाहिये; तो क्या देश सहर्ष प्रदान नहीं करेगा ?

हमारे देश को स्वतंत्र और स्वावलम्बी बनाने के मानी यह नहीं है कि पूँजीवादी शासन संभाल लें और वे अपने कारखानों का इतना उत्पादन बढ़ा लें कि अन्त में उन चीजों को बाहर खपाने की जरूरत पड़े। हम पाँच आने रोज के बदले रुपया रोज के गुलाम बन जायँ और वे करोड़पति की जगह अरबोंपति; हमारे भाग्य विधाता! क्या वे हमारी योजना में शरीक हो सकते हैं और अपने कारखाने जनता के सुपुर्द कर सकते हैं ?—अथवा क्या वे आज इस बारे में कुछ घोषणा करने और कदम बढ़ाने को तैयार हैं ? अगर वे यह सब करने को राजी हैं तो महात्मा गाँधी का विश्वास सत्य है; हम क्या संसार उनकी देवताओं के समान पूजा करेगा! और अगर वे राजी नहीं हैं तो वे देशप्रेमी नहीं पूँजी और सत्ता के प्रेमी हैं, तथा महात्माजी का विश्वास मिथ्या है!

किन्तु यह सब कार्य सफलता और विकास की ओर तब ही गतिमान हो सकेगा जबकि नारी को ससम्मान अध्यक्षता के आसन पर आरूढ़ कर दिया जायगा—जबकि नारी का महत्व स्वीकार कर लिया जायगा; तभी तलवार, बन्दूक के शासन का अन्त सम्भव हो सकेगा। अगर हम सचमुच ही देश और विश्व की ऐसी व्यवस्था के लिये लालायित हैं जिसमें एक परिवार के सदस्यों के समान मानव में भेदभाव रहित सहयोग हो और प्रत्येक व्यक्ति की समान रूप से गुजर-बशर होती रहे तो शीघ्रातिशीघ्र नारी को बन्धन मुक्त कर उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर लेना होगी।

ॐ हम बनें सहिष्णु, रहें संतुलित।
व्यक्ति-समाज-संबंध मौलिक हैं, उभय हों सम्यक् निर्वाहित।
हो समाज सुसंगठित, विभुता सामाजिक श्रम में रहे निहित।
'संपति सब रघुपति की' होवे, 'यज्ञ-दान-तप' क्रमशः विहित।
ॐ हम बनें सहिष्णु, रहें संतुलित।